ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
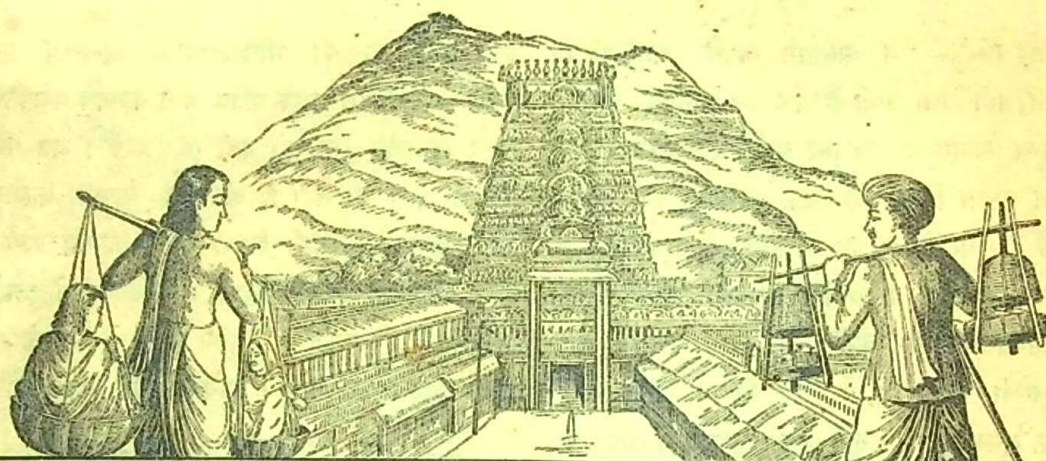
कल्याण

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपालभवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ५ । ३३)

वर्ष ३१ } गोरखपुर, सौर कार्तिक २०१४, अक्टूबर १९५७ { संख्या १० पूर्ण संख्या ३७१

रुक्मिणीका श्रीकृष्णको संदेश

पाती दीजौ स्याम सुजानहि ।
मुख संदेस सुनाइ दीजियौ, मोहि दीन करि जानहिं ॥
श्रीहरि जोग रुकमिनी लिखितं, बिनय सुनौ प्रभु कानहिं ।
बाँचत बेगि आइयौ माधौ, धरौ जात मेरे प्रानहि ॥
समुझत नाहिं दीन दुख कोऊ, हरि भख जंबुक पानिहिं ।
मनि मरकट कौं देत मूढ़मति, मृगमद रज में सानहिं ॥
कब लौं दुःख सहौं दरसन बिनु, भई मीन बिनु पानिहि ।
सूरदास प्रभु अधर सुधाधर, बरषि देहु जिय दानहि ॥

याद रक्खो—जो वास्तवमें अपने आत्मस्वरूपमें स्थित है, वही सच्चा ज्ञानी है और उस ज्ञानीका—देहात्म-भावशून्य आत्मस्वरूप पुरुषका कर्मसे कोई सम्बन्ध नहीं है। न उसपर विधि-निषेधात्मक शास्त्रका कोई शासन ही है। पर यदि वह साधनकालमें एकान्त-वासी, ध्यानाभ्यासी तथा केवल विचारपरायण रहा है तो वह ज्ञानोत्तरकालमें शुभ कर्मोंसे भी विरत, उदासीन तथा एकान्तसेवी ही रहता है और जिसने साधन-कालमें अधिक समय निष्काम कर्म तथा उपासनामें लगाया है, उसके द्वारा निष्कामभावसे सहज ही शुभ कर्म—लोकोपकारी कर्म होते रहते हैं। स्वरूपतः कर्म करना या न करना उसकी पूर्व प्रकृतिसे सम्पर्क रखता है। वस्तुतः वह सदा-सर्वदा कर्मरहित है; क्योंकि उसमें कर्तृत्वाभिमानी कोई रहता ही नहीं।

याद रक्खो—ज्ञानी पुरुष अवश्य ही विधि-निषेधके बन्धनमें नहीं है; तथापि उसके द्वारा शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका यानी पापोंका आचरण कभी हो ही नहीं सकता; क्योंकि साधनकालमें ही उसका अन्तःकरण भोग-कामना, वासना आदिसे विमुक्त होकर विशुद्ध हो चुकता है। उसके अन्तःकरणमें जब शुद्ध भोग-कामना ही नहीं रहती, तब दूषित पाप-संस्कार तो रह ही कैसे सकते हैं? उसका हृदय सर्वथा कामना-वासना-शून्य होता है, इससे उसके द्वारा पापाचरण होना सम्भव नहीं, क्योंकि पापाचरणमें एकमात्र हेतु भोग-कामना ही है।

याद रक्खो—आत्मस्थित, आत्मतृप्त, आत्मरत, आत्म-निष्ठ ज्ञानी पुरुषको भोग-पदार्थोंका सुखरूप प्रतीत होना तो दूर रहा, उसके पवित्र अन्तःकरणमें ब्रह्मातिरिक्त अन्य किसीकी सत्ता ही नहीं रह जाती। जब किसी भोगकी सत्ता ही नहीं है और जब कामना करनेवाला कोई अहंकारी ही नहीं है, तब भोग-कामना होगी ही कैसे? अतएव ज्ञानीके द्वारा आसक्ति-कामनायुक्त कर्म कभी नहीं हो सकते। किसीमें यदि होते हैं तो समझ लेना चाहिये उसे यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई है।

याद रक्खो—कर्म-संस्पर्शशून्य होनेपर भी जब-तक प्रारब्ध शेष है, तबतक अहम्भावरहित ज्ञानीका शरीर रहेगा और तबतक उस शरीरमें प्रारब्धानुसार अनुकूल-प्रतिकूल भोग भी दिखायी देंगे। ज्ञानीका शरीर सर्वथा नीरोग भी रह सकता है और बहुत रुग्ण भी। उसका बहुत मान-यश हो सकता है और घोर अपमान-अकीर्ति भी। उसके संतान-सुख पूरा रह सकता है और पुत्रोंकी मृत्यु भी हो सकती है।

परंतु ज्ञानीके अनुभवमें संसारकी सत्ता नहीं रहती और संसारका मिथ्यात्व सिद्ध हो चुकता है, इसलिये किसी भी सांसारिक अनुकूल या प्रतिकूल घटना या स्थितिसे वह कभी भी अपने स्वरूपसे च्युत या विचलित नहीं होता। उसके लिये प्रारब्धवश अनुकूल-प्रतिकूल प्रसङ्ग आते दिखायी दे सकते हैं; परंतु प्रत्येक प्रसङ्गमें वह यथायोग्य व्यवहार करते रहनेपर भी उससे सर्वथा असङ्ग और निर्लिप्त ही रहता है। उसका निश्चय होता है—यह सब असत् प्रपञ्च है और केवल व्यवहारके लिये ही इसकी सत्ता है।

'शिव'

गीताका रहस्य

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

उपक्रम

पाण्डवोंके राजसूय-यज्ञमें उनके महान् ऐश्वर्यको देखकर दुर्योधनके मनमें बड़ी भारी जलन पैदा हो गयी और उसने शकुनि आदिकी सम्मतिसे जुआ खेलनेके लिये युधिष्ठिरको बुलाया तथा छलसे उनको हराकर उनका सर्वस्व हर लिया। अन्तमें यह निश्चय हुआ कि युधिष्ठिर आदि पाँचों भाई द्रौपदीसहित बारह वर्ष वनमें और एक साल छिपकर रहें; इस प्रकार तेरह वर्षतक समस्त राज्यपर दुर्योधनका आधिपत्य रहे और पाण्डवोंके एक सालके अज्ञातवासका भेद न खुल जाय तो तेरह वर्षके बाद पाण्डवोंका राज्य उन्हें लौटा दिया जाय। इस निर्णयके अनुसार तेरह साल बितानेके बाद जब पाण्डवोंने अपना राज्य वापस माँगा, तब दुर्योधनने साफ इन्कार कर दिया। उसे समझानेके लिये द्रुपदके ज्ञान और अवस्थामें वृद्ध पुरोहितको भेजा गया, परंतु उसने कोई बात नहीं मानी। तब दोनों ओर-से युद्धकी तैयारी होने लगी।

जब पूरी तैयारी हो गयी, तब भगवान् वेदव्यासजीने धृतराष्ट्रके समीप जाकर उनसे कहा—'यदि तुम घोर संग्राम देखना चाहो तो मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान कर सकता हूँ।' इसपर धृतराष्ट्रने कहा—'ब्रह्मर्षिश्रेष्ठ ! मैं कुल-के इस हत्याकाण्डको अपनी आँखोंसे देखना तो नहीं चाहता; परंतु युद्धका सारा वृत्तान्त भलीभाँति सुनना चाहता हूँ।' तब महर्षि वेदव्यासजीने संजयको दिव्य दृष्टि प्रदान करके धृतराष्ट्रसे कहा—''ये संजय तुम्हें युद्धका सारा वृत्तान्त सुनायेंगे। ये युद्धकी समस्त घटनावलियोंको प्रत्यक्ष देख, सुन और जान सकेंगे। सामने या पीछेसे, दिनमें या रातमें, गुप्त या प्रकट, क्रियारूपमें परिणत या केवल मनमें आयी हुई, ऐसी कोई बात न होगी, जो इनसे तनिक भी छिपी रह सके। ये सब बातोंको ज्यों-की-त्यों जान लेंगे। इनके शरीरसे न तो कोई शस्त्र छू जायगा और न इन्हें जरा भी थकावट ही होगी।

'यह 'होनी' है, अवश्य होगी; इस सर्वनाशको कोई भी रोक नहीं सकेगा। अन्तमें धर्मकी जय होगी।''

इतना कहकर महर्षि वेदव्यास चले गये। उनके जाने-के बाद धृतराष्ट्रके पूछनेपर संजय उन्हें पृथ्वीके विभिन्न द्वीपोंका वृत्तान्त सुनाते रहे, इसीमें उन्होंने भारतवर्षका भी वर्णन किया। तदनन्तर जब कौरव-पाण्डवोंका युद्ध आरम्भ हो गया और लगातार दस दिनोंतक युद्ध होनेपर पितामह भीष्म रणभूमिमें रथसे गिरा दिये गये, तब संजयने धृतराष्ट्रके पास जाकर उन्हें अकस्मात् भीष्मके मारे जानेका समाचार सुनाया (महा० भी० १३)। उसे सुनकर धृतराष्ट्रको बड़ा ही दुःख हुआ और युद्धकी सारी बातें विस्तारपूर्वक सुनानेके लिये उन्होंने संजयसे कहा; तब संजयने दोनों ओरकी सेनाओंकी व्यूह-रचना आदिका विस्तृत वर्णन किया। इसके बाद धृतराष्ट्रने विशेष विस्तारके साथ आरम्भसे तबतककी सारी घटनाएँ जाननेके लिये संजयसे प्रश्न किया। यहींसे श्रीमद्भगवद्गीताका पहला अध्याय आरम्भ होता है। महाभारत, भीष्मपर्वमें यह पचीसवाँ अध्याय है। यहाँसे बयालीसवें अध्यायतक 'गीता' कही गयी है।

पहला अध्याय

इस पहले अध्यायको गीताग्रन्थकी अवतारणा समझना चाहिये। इसमें दोनों ओरके प्रधान-प्रधान योद्धाओंके नाम गिनाये जानेके बाद मुख्यतः अर्जुनके बन्धुनाशकी आशङ्का-से उत्पन्न मोहजनित विषादका ही वर्णन है। ऐसा विषाद भी सत्सङ्गके प्रभावसे कल्याणकी ओर अग्रसर करानेवाला योग (साधन) बन जाता है, इसलिये इसका नाम 'अर्जुन-विषादयोग' रखा गया है।

इसमें सर्वप्रथम धृतराष्ट्रने संजयसे इस प्रकार प्रश्न किया—'संजय ! कुरुक्षेत्रमें युद्धकी अभिलाषासे एकत्र हुए मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? युद्धके पूर्व वहाँ क्या-क्या बातें हुई ? और किस प्रकार युद्ध आरम्भ हुआ ?'

धृतराष्ट्रद्वारा किये गये इस प्रश्नका कि 'मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ?' कोई-कोई विचारक यह भाव निकालते हैं कि 'उन्होंने युद्ध किया या नहीं ?' किंतु यह भाव युक्ति-संगत नहीं है; क्योंकि संजय उसे ही यह कह चुके हैं कि 'दस दिनोंसे युद्ध हो रहा है और आज भीष्मजी मारे गये हैं।' यह बात जान लेनेपर ऐसा प्रश्न नहीं उठ सकता कि 'युद्ध हुआ या नहीं ?' अतः धृतराष्ट्रके पूछनेका यही भाव है कि 'वहाँ परस्पर क्या बातें हुई ? और युद्ध किस

प्रकार हुआ ?' इसी भावके अनुसार उत्तर देते हुए संजयने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

'महाराज ! उस समय पाण्डवसेनाकी वज्र-व्यूह-रचना देखकर दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास गया और उनको युद्धके लिये उत्तेजित करता हुआ बोला—'आचार्य ! आपके शत्रु द्रुपदका पुत्र धृष्टद्युम्न आपको मारनेके लिये ही पैदा हुआ और आपसे ही युद्ध-विद्या सीखकर आपका ही सामना करनेके लिये उसने यह अद्भुत वज्र-व्यूह-रचना की है। इसमें उसने बड़ी बुद्धिमानीका कार्य यह किया है कि पाण्डवोंकी थोड़ी-सी सेना भी बड़ी विशाल दिखायी देने लगी है। हम आशा करते हैं कि आप अपनी सेनाका व्यूह उससे भी अद्भुत एवं प्रभावशाली बनायेंगे; क्योंकि आप पाण्डवोंके तथा हम सबके भी आचार्य हैं, व्यूह-रचना-कलामें अत्यन्त निपुण हैं। यदि पाण्डवोंकी सेनामें भीम और अर्जुनके समान पराक्रमी योद्धा हैं तो अपने पक्षमें भी आप और भीष्म-जैसे शूरवीर योद्धा विद्यमान हैं, जो अतिशय बलवान् होनेके साथ ही युद्धमें मेरे लिये प्राण देनेको उद्यत हैं। अतः हमारी सेनाका ही बल अधिक है। सेनाके संरक्षण-कार्यमें भीमकी अपेक्षा भीष्म ही अधिक बलवान् हैं। इसलिये आप सब लोग भीष्मकी ही रक्षा करें। मुझे भय है कि कहीं शिखण्डी आकर भीष्मको मार न डाले; क्योंकि जन्मकालमें स्त्री होनेके कारण शिखण्डीपर शूरवीर भीष्म अपने अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार नहीं करते। मेरा विश्वास है कि भीष्मकी रक्षा होनेपर हम सबकी रक्षा हो सकती है; क्योंकि भीष्म अकेले ही सबकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं।'

दुर्योधनकी यह बात भीष्मजीने भी सुन ली थी, इससे वे बड़े प्रसन्न हुए और दुर्योधनका हर्ष एवं उत्साह बढ़ानेके लिये सिंहनाद करके उन्होंने अपना विजयसूचक शङ्ख बजाया। इसके पश्चात् कौरवसेनामें और भी बहुत-से शङ्ख, नगारे, ढोल और मृदङ्ग आदि जुझाऊ बाजे सहसा बजने लगे। यह युद्ध आरम्भ होनेकी सूचना थी। पाण्डवोंने भी उसके प्रत्युत्तरमें अपने-अपने शङ्ख बजाये, जिससे सारी पृथ्वी और आकाश गूँज उठा तथा उस भयानक ध्वनिसे कौरवपक्षके सैनिकोंका हृदय विदीर्ण-सा होने लगा।

उस समय धृतराष्ट्रके सैनिक व्यूह-बद्ध हो सुव्यवस्थित खड़े थे और उनके द्वारा अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार आरम्भ होना ही चाहता था। यह अवस्था देख अर्जुन वीरोचित शब्दोंमें भगवान् श्रीकृष्णसे कहने लगे—

'अच्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके मध्यभागमें खड़ा कर दीजिये। मैं पहले देख तो लूँ कि ये कौन-कौन वीर युद्धकी कामना लेकर यहाँ खड़े हुए हैं और इस रणक्षेत्रमें किन-किनके साथ मुझे युद्ध करना होगा। युद्धमें दुर्योधनकी दुर्बुद्धिका निवारण न करके उसका प्रिय करनेकी इच्छासे ये जो लोग यहाँ पधारे हुए हैं और युद्धके लिये तैयार खड़े हैं, इन सबको आज मैं देखूँगा।'

इसपर भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके मध्यभागमें भीष्म और द्रोण आदिके सामने अपने रथको ले जाकर खड़ा कर दिया और कहा—'इन कौरव योद्धाओंको देखो।' अर्जुनने देखा—पितामह, आचार्य और बन्धु-बान्धव सामने खड़े हैं। उन्हें देखकर वे दयासे द्रवित हो उठे और शोकातुर होकर भगवान्से बोले—'प्रभो ! ये सब तो मेरे स्वजन हैं, इनको देखकर न तो मुझे युद्ध करनेका साहस होता है और न मैं युद्ध करनेमें किसीका कल्याण ही समझता हूँ। यदि इन सबको मार दिया जाय तो इसका परिणाम बहुत बुरा होगा—यह मेरी मान्यता है। इन स्वजनोंका विनाश करके प्राप्त किये हुए राज्य, सुख-भोग और जीवनसे भी क्या प्रयोजन है ? इस लोकके राज्य या सुखकी तो बात ही क्या है, तीनों लोकोंका राज्य मिल जाय तो भी मैं इनको मारना नहीं चाहता। नीतिके अनुसार जो कुछ भी कहा जाय, किंतु धर्मकी दृष्टिसे विचार करनेपर मैं तो इन आततायियोंको भी मारनेमें पाप ही समझता हूँ। लोभके कारण भ्रष्ट-चित्त हुए ये दुर्योधन आदि कुलक्षय और मित्र-द्रोहके दोषको नहीं समझते तो न समझें; किंतु मैं तो जानता हूँ कि कुलके नाशसे उसका सनातन धर्म नष्ट हो जाता है और धर्मके नाशसे कुलकी नारियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं, जिससे वर्णसंकरता फैलती है। इसके परिणामस्वरूप श्राद्ध-तर्पण आदि क्रियाएँ नष्ट हो जानेसे कुलघाती पुरुषोंके पितर और वे स्वयं भी नरकमें जाते हैं। मैं अपनी ओरसे युद्ध न करूँ, उस दशामें यदि कौरव योद्धा अस्त्ररहित मुझको अस्त्र-शस्त्रोंसे मार डालें तो वह मरना भी मेरे लिये कल्याणकारी ही होगा।'

भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहकर और धनुष-बाण त्यागकर अर्जुन शोकाकुल-चित्त हो रथके पिछले भागमें बैठ गये।

दूसरा अध्याय

इस अध्यायमें कर्मयोगका वर्णन होनेपर भी उपदेशका

आरम्भ सांख्ययोगसे ही हुआ है । सांख्ययोगके साधनमें आत्मानात्म-विवेक ही मुख्य है । आत्मतत्त्वका वर्णन अन्य अध्यायोंकी अपेक्षा इसमें अधिक विस्तारपूर्वक हुआ है, इसलिये इसका नाम 'सांख्ययोग' रखा गया है ।

अर्जुनके हृदयमें मोहवश करुणाका स्रोत उमड़ पड़ा था । उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी अविरल धारा बह रही थी, वे विषादमें डूब रहे थे । उसी अवस्थामें भगवान्‌ने उनसे कहा—'अर्जुन ! इस घोर संग्राममें यह अज्ञानजनित कायरता तुझमें कहाँसे आ गयी ? यह श्रेष्ठ पुरुषोंके योग्य नहीं है और न यह स्वर्ग तथा कीर्ति प्रदान करनेवाली ही है । यह तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है । यह तो नपुंसकता है, इस तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर तुम युद्धके लिये खड़े हो जाओ ।'

अर्जुनने कहा—'भगवन् ! भीष्म और द्रोण तो मेरे लिये परम पूजनीय हैं, मैं उन्हें बाणोंसे कैसे मारूँ ? उन्हें मारकर राज्य या सुख भोगनेकी अपेक्षा तो मैं भीख माँगकर जीवन-निर्वाह कर लेना ठीक समझता हूँ । युद्धमें होनेवाले बन्धुजनोंके नाशकी आशङ्कासे मुझमें दीनता और कायरता आ गयी है । इसी दोषके कारण मेरा क्षात्रस्वभाव दब-सा गया है और मुझे क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये—इसका निर्णय करनेमें मैं असमर्थ हो गया हूँ, मेरे मनपर मोह छा गया है । प्रभो ! मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरणमें आया हूँ । अतः मेरे लिये जो कल्याणकारी कर्तव्य हो, उसका उपदेश कीजिये । मेरी समझमें तो यही आया है कि त्रिलोकीका राज्य मुझे मिल जाय, तब भी मेरा शोक दूर नहीं हो सकता; अतः मैं युद्ध नहीं करूँगा ।'

इतना कहकर अर्जुन चुप हो गये । उनके इन वचनोंको सुनकर भगवान् इसलिये मुसकराये कि 'अर्जुन अभी-अभी कह चुका है कि मैं आपके शरणागत हूँ, मुझे कर्त्तव्यका उपदेश कीजिये, और अब स्वयं ही युद्ध न करनेका निश्चय प्रकट कर रहा है ।'

फिर वे दुःखित अर्जुनसे बोले—'पार्थ ! आज तू उन लोगोंके लिये शोक कर रहा है, जो शोक किये जाने योग्य कदापि नहीं हैं और बातें पण्डितोंकी-सी कर रहा है । किंतु जिनके प्राण चले गये, उनके लिये, एवं जिनके प्राण नहीं गये, उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते । जिनके प्राण चले गये, उनके लिये तो शोक करना वृथा है ही; जिनके प्राण नहीं गये, उनके लिये भी शोक करना व्यर्थ है; क्योंकि उनके प्राण जानेवाले हैं । शरीर तो नाशवान् है, वह नष्ट होकर ही रहेगा और आत्मा अविनाशी है, अतः उसका कभी नाश हो नहीं सकता । किसी भी दृष्टिसे देखा जाय, शोक करना नहीं बनता । तू, मैं और ये सब राजालोग वर्तमान शरीर धारण करनेसे पहले भी थे और भविष्यमें भी रहेंगे । शरीरका क्षय, वृद्धि, उत्पत्ति और विनाश होनेके कारण यह परिणामी है । जिस प्रकार बाल, युवा और वृद्धावस्थाका होना इस स्थूल शरीरका विकार है, उसी प्रकार जीवात्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना सूक्ष्मशरीरका विकार है । इस तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष कभी मोहके वशीभूत नहीं होता । सर्दी, गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग क्षणभङ्गुर और अनित्य हैं । अतः तुझे धैर्यपूर्वक इनको सहन करना चाहिये । जो इन सुख-दुःखोंको समान समझता है, जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं कर सकते, वही अमृतत्व अर्थात् मोक्षका अधिकारी होता है । तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंने यह सिद्धान्त निश्चित किया है और यह युक्तियुक्त भी है कि 'जो वस्तु सत् है, उसका तो कभी अभाव नहीं होता और जो वस्तु मिथ्या है, वह सदा स्थिर नहीं रहती ।' इसके अनुसार सुख-दुःख देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तथा यह जड शरीर क्षणभङ्गुर और अनित्य होनेके कारण असत् हैं तथा देहमें स्थित सर्वव्यापी चेतन आत्मा नाशरहित, अप्रमेय, अजन्मा, नित्य, शाश्वत, अखण्ड, एकरस और पुरातन होनेसे सत् है । आत्मा नित्य, अव्यक्त और अक्रिय होनेसे न किसीको मारता है और न किसीसे मरता है; क्योंकि वह उत्पत्ति, विनाश, क्षय, वृद्धि, परिणाम आदि विकारोंसे रहित है, शरीरकी भाँति जन्मने-मरनेवाला नहीं है । अतएव शरीरका नाश होनेसे आत्माका नाश नहीं होता । वस्त्र बदलनेकी भाँति एक शरीरसे दूसरे शरीरमें आत्माका जो जाना-आना-सा प्रतीत होता है, वह सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे औपचारिक है—वास्तविक नहीं । वास्तवमें तो आत्मा नित्य, सर्वव्यापक, स्थाणु, अचल, सनातन, अचिन्त्य, निराकार और निर्विकार है । इसलिये न यह शस्त्रसे कटता है न आगसे जलता है, न पानीसे गलता है और न हवासे सूखता ही है । शरीरकी उत्पत्तिके पहले और शरीरके विनाशके बाद भी आत्मा अव्यक्त ही है । केवल शरीरके सम्बन्धसे उसकी उत्पत्ति और विनाशकी प्रतीति होती है । वास्तवमें तो वह जन्म-मरणसे रहित ही है । अतएव आत्माके लिये किसी प्रकारसे भी शोक करना संगत नहीं है ।

'जैसे बादलोंमें सदा व्याप्त रहनेवाला आकाश बादलोंके गरजने-बरसने आदि विकारोंसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही सबके शरीरोंमें सदा विद्यमान रहकर भी विकाररहित आत्मा शरीरके गुण-दोषोंसे लिप्त नहीं होता। इस आश्चर्यमय आत्माके तत्त्वको सुनकर भी सब समझ नहीं पाते, समझनेवाला तो कोई विरला ही होता है। कोई ज्ञानी महात्मा ही यथार्थरूपसे आश्चर्यकी ही भाँति इसे अनुभव करते, कहते और सुनते हैं। नित्य रहनेसे आत्माका कभी किसी प्रकार भी विनाश हो नहीं सकता और शरीर क्षणभङ्गुर, परिणामी एवं अनित्य होनेके कारण सदा टिक नहीं सकता। अतः आत्मा और शरीरके लिये शोक करना संगत नहीं है। आत्माकी नित्यता समझ लेनेपर तो किसीको युद्धसे भय होगा ही नहीं।

'अपने क्षात्रधर्मकी ओर देखकर भी तुझे भयसे कम्पित नहीं होना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है। निष्कामभावसे किया हुआ धर्ममय युद्ध मुक्तिको देनेवाला है और सकामभावसे किया हुआ वही युद्ध स्वर्ग प्रदान करता है। अपने-आप प्राप्त हुआ ऐसा धर्ममय युद्ध भाग्यवान् क्षत्रियको ही मिलता है। यदि तू इस धर्ममय संग्रामसे मुँह मोड़ लेगा तो धर्म और कीर्तिको खोकर पापका ही भागी बनेगा। संसारके मनुष्य तेरी कभी न मिटनेवाली अपकीर्तिकी सदा चर्चा करेंगे। किसी सम्मानित पुरुषकी अपकीर्ति फैल जाय तो वह उसके लिये मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायिनी होती है। जिन महारथी वीरोंके हृदयमें तेरे लिये परम सम्मानका भाव है, वे तुझे भयसे भागा हुआ समझेंगे। उनकी दृष्टिमें तू अत्यन्त तुच्छ हो जायगा। तेरे शत्रु तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे न कहनेयोग्य वचन भी कह डालेंगे। इससे बढ़कर अत्यन्त दुःखकी बात और क्या होगी? यदि तू युद्धमें मारा गया तो स्वर्गलोक प्राप्त करेगा और यदि तेरी जीत हुई तो तू इस पृथ्वीका राज्य भोगेगा। दोनों ही अवस्थाओंमें तेरे लिये लाभ-ही-लाभ है। यह समझकर तू युद्धके लिये दृढ़ निश्चय करके खड़ा हो जा। यदि तुझे स्वर्ग और राज्य—इन दोनोंकी इच्छा न हो, तो भी क्षत्रियके नाते अपना धर्म समझकर तथा सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजयको समान मानकर युद्धके लिये तैयार हो जा। इस प्रकार धर्मयुक्त युद्ध करनेसे तू कभी पापका भागी नहीं होगा, प्रत्युत निष्कामभावसे यही कार्य करनेपर परम श्रेय प्राप्त कर लेगा।'

यहाँतक भगवान्ने ज्ञानयोग और क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेकी आज्ञा दी है। इस अन्तिम (अड़तीसवें) श्लोकमें बतलाये हुए समभावको सांख्यकी दृष्टिसे इसी अध्यायके पंद्रहवें श्लोकमें बतलाया गया है और कर्मयोगकी दृष्टिसे इसीके आगे अड़तालीसवें श्लोकमें बतलायेंगे। इसी भावको स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं—

'अर्जुन! यह समबुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके विषयमें कही गयी (गीता २। १५) और इसी बुद्धिको अब तू कर्मयोगके विषयमें सुन, जिसके अनुसार साधन कर लेनेपर तू कर्मोंके बन्धनका नाश कर डालेगा। इस निष्कामकर्मयोगका साधन आरम्भ करके साधक किसी कारणवश यदि उसे बीचमें ही छोड़ दे, तो भी उसका बीज नष्ट नहीं होता। सकाम साधनोंकी भाँति इसमें त्रुटि होनेपर कोई विपरीत परिणाम निकले या कोई पाप लगे—ऐसा दोष इस कर्मयोगके साधनमें नहीं है। इस कर्मयोगका थोड़ा भी साधन महान् भयसे उद्धार कर देता है। इस कर्मयोगमें एक ही निश्चयात्मिका बुद्धि होती है। एवं जो विवेकहीन और भोगासक्त हैं, उन पुरुषोंकी बुद्धियाँ अनेक भेदोंवाली और अनन्त होती हैं। वे भोग और ऐश्वर्यमें आसक्तचित्त होनेके कारण वेदोंमें बतलायी हुई नाना प्रकारकी विस्तृत यज्ञरूपा सकाम क्रियाओंका अनुष्ठान करते हैं, वे क्रियासाध्य सुखके उपभोगमें ही आसक्त रहते हैं और कहते हैं कि इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस कारण उनकी बुद्धि निश्चयात्मिका नहीं होती। इसलिये तू निष्काम, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य वस्तुमें स्थित और योगक्षेमको न चाहनेवाला बन; क्योंकि इस प्रकारके साधनद्वारा ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर वेदोंमें बतलाये हुए सम्पूर्ण साधनोंका फल उसीके अन्तर्गत आ जाता है।'

जिस कर्मयोगकी भगवान्ने उपर्युक्त शब्दोंमें प्रशंसा की, उसीका स्वरूप वे इस प्रकार बतलाते हैं—

'अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, फलमें कभी नहीं। तू कर्मफलका हेतु मत बन अर्थात् कर्मके फलमें आसक्ति, वासना और ममता मत कर। साथ ही तेरी कर्म न करनेमें भी प्रीति न हो। तू आसक्ति त्यागकर, योगस्थ होकर कर्म कर। सिद्धि और असिद्धिमें समबुद्धि होना ही योगस्थ होना है। यह समभाव ही 'योग' नामसे कहा गया है। इस समत्वरूप बुद्धियोगकी अपेक्षा सकाम कर्म अत्यन्त तुच्छ है, इसलिये तू समबुद्धिरूप योगका आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फलके हेतु

बननेवाले मनुष्य अत्यन्त दीन हैं। समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पाप दोनोंसे लिप्त नहीं होता, अतः तू समबुद्धिरूप योगके लिये चेष्टा कर; क्योंकि यह समबुद्धिरूप योग ही कर्मोंके बन्धनसे छूटनेका उपाय है। यही कर्म करनेकी कुशलता है। समबुद्धियुक्त ज्ञानीजन कर्मफलको त्यागकर निर्विकार परमपदको प्राप्त होते हैं। अतः योगसाधन करते-करते जब तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलसे ऊपर उठ जायगी, जब तू वैराग्यको प्राप्त होगा और तेरी बुद्धि परमात्माके स्वरूप-में अचल एवं स्थिरभावसे स्थित हो जायगी, तब तू परमात्माकी प्राप्तिरूप योगको प्राप्त हो जायगा।'

इसपर अर्जुनने चार प्रश्न किये—(१) स्थिर-बुद्धि-वाले पुरुषका क्या लक्षण है ? (२) वह कैसे बोलता है ? (३) कैसे बैठता है ? (४) और कैसे चलता है ?

पहले प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने समाधिमें स्थित स्थित-प्रज्ञके लक्षण इस प्रकार बतलाये कि 'वह मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है।'

फिर दूसरे प्रश्नके उत्तरमें उसके बोलनेका प्रकार यह बतलाया कि 'दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर मनमें उद्वेग न होनेके कारण जो उद्वेगरहित वचन बोलता है तथा सुखोंकी प्राप्तिमें निःस्पृह होनेके कारण स्पृहायुक्त वचन नहीं बोलता एवं राग, भय और क्रोध नष्ट हो जानेके कारण जो राग, भय और क्रोधयुक्त वाक्य नहीं कहता, इसी प्रकार जो पुरुष स्नेहरहित होनेके कारण शुभ वस्तुके प्राप्त होनेपर तो प्रसन्न होकर उसका अभिनन्दन नहीं करता और अशुभके प्राप्त होनेपर उसकी द्वेषबुद्धिसे निन्दा नहीं करता, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहलाता है।' यहाँ 'मुनि' कहकर भगवान्ने उसकी वाणीके संयमकी बात कही है।

इसके बाद तीसरे प्रश्नके उत्तरमें भगवान्ने स्थित-प्रज्ञके बैठनेका प्रकार यों बतलाया है कि 'जैसे कछुआ अपने सब अङ्गोंको समेटकर बैठता है, वैसे ही स्थिर-बुद्धि पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सर्वथा हटाये हुए रहता है। यदि मनुष्य हठ और विचारसे भी इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण करना छोड़ देता है तो इससे उसके विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, किंतु उनमें उसकी आसक्ति बनी रहती है। भगवत्प्राप्त स्थितप्रज्ञकी आसक्ति भी नहीं रहती, यही उसकी विशेषता है। आसक्तिका नाश हुए बिना बलवती इन्द्रियाँ यत्नशील विवेकी पुरुषके भी मन-को बलात्कारसे विषयोंकी ओर आकर्षित कर लेती हैं। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह वैराग्ययुक्त चित्तसे इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण हो जाय। मेरे परायण हुए बिना मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होता है, जिससे उसकी विषयोंमें आसक्ति हो जाती है। आसक्तिसे विषय-कामना होती है। कामनामें विघ्न पड़ने-पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे मूढ़भाव और उससे स्मरण-शक्ति भ्रमित हो जाती है। इस प्रकार विवेक-शक्तिका नाश होनेसे वह अपने परमार्थ-साधनसे गिर जाता है।'

इसके पश्चात् भगवान्ने चौथे प्रश्नके उत्तरमें स्थिरबुद्धि पुरुषके आचरण बतलानेके लिये पहले साधकके विषयोंमें विचरण करनेकी विधि इस प्रकार बतलायी है कि 'प्रथम स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष अपने वशमें की हुई राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ, अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है। उस प्रसन्नताके होनेपर उसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता और उस प्रसन्न चित्तवाले पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है। किंतु उपर्युक्त साधनसे रहित पुरुषके अन्तःकरणमें न तो अध्यात्मविषयक बुद्धि होती है और न उसमें आस्तिकभाव ही होता है, आस्तिक-भाव हुए बिना शान्ति नहीं मिलती, फिर शान्तिरहित मनुष्यको सुख तो मिल ही कैसे सकता है। जैसे जलमें वायु नावको भटकाती और डुबो देती है, वैसे ही विषयों-में विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे जिस इन्द्रियके साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय उस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको विचलित कर देती है। इसलिये जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंकी ओरसे सर्वथा वशमें कर ली गयी हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है। साधनहीन अयुक्त और योगयुक्त सिद्ध पुरुषमें तो रात-दिनका अन्तर है। जिस नित्यशुद्धबोधस्वरूप परमानन्दमें योगयुक्त जागता है अर्थात् परमात्माके स्वरूपका अनुभव करता है, वह संसारी मनुष्यों-की रात्रि है अर्थात् उसका उन्हें बिल्कुल ही अनुभव नहीं है तथा जिस नाशवान् क्षणभङ्गुर सांसारिक सुखमें सब प्राणी जागते हैं अर्थात् सांसारिक सुखका अनुभव करते हैं, तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रि है अर्थात् ज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें वह सुख सुख ही नहीं है;

क्योंकि वह पुरुष तो सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रकी भाँति उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अचलभावसे स्थिर रहता है। उस स्थितप्रज्ञ पुरुषके हृदयमें संसारके सम्पूर्ण भोग उसी प्रकार कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते, जैसे समुद्रमें नदियाँ; क्योंकि उसमें कामनाका अत्यन्त अभाव है, इसलिये वह शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंकी कामनावाला नहीं। अतः जो सम्पूर्ण कामनाओंका सर्वथा त्याग करके ममता, अहंता और स्पृहासे रहित हुआ संसारमें विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त करता है ?' यहाँ भगवान्ने 'स्थितप्रज्ञ कैसे चलता है ?' इस प्रश्नका उत्तर दिया है। यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है। इसे प्राप्त होकर मनुष्य मोहित नहीं होता। अन्तकालमें भी इस ब्राह्मीस्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है। अतएव मनुष्यको इस प्रकारकी स्थितिमें नित्य स्थित रहना चाहिये।

तीसरा अध्याय

इस तीसरे अध्यायका नाम 'कर्मयोग' है; क्योंकि इसमें कर्मयोगका ही तत्त्व विशेषरूपसे समझाया गया है। दूसरे अध्यायमें भगवान्ने पहले सांख्ययोग और फिर कर्मयोगका विषय अलग-अलग कहा; किंतु अर्जुनने उसका तात्पर्य ठीक-ठीक नहीं समझा, अतः प्रश्न किया कि 'जनार्दन ! आप कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ मानते हैं तो फिर मुझे युद्धरूपी घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ? आप मिले हुए-से वचनोंद्वारा मेरी बुद्धिको मोहित-सी कर रहे हैं। अतः कृपया एक बात निश्चित करके कहिये, जिससे कि मेरा कल्याण हो !'

भगवान्ने कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ कहीं नहीं बतलाया; किंतु दूसरे अध्यायके उनचासवें श्लोकमें आये हुए 'बुद्धियोग' शब्दको, जो कि समबुद्धिरूप कर्मयोगका वाचक है, अर्जुनने भूलसे ज्ञानयोगका वाचक समझ लिया। उसी श्लोकमें आये हुए 'कर्म' शब्दको, जो कि सकाम कर्मका वाचक है, अर्जुनने भूलसे युद्धरूप घोर कर्मका वाचक समझ लिया। इसी प्रकार दूसरे अध्यायके पचासवें श्लोकमें कहा हुआ 'बुद्धियुक्त' शब्द समभावयुक्त कर्मयोगीका वाचक है और उसमें उसीकी प्रशंसा की गयी है; किंतु अर्जुनने उसे ज्ञानयोगीका वाचक समझकर उसीकी प्रशंसा मान ली तथा उसके उत्तरार्द्धमें 'तू योगका साधन कर, योग ही कर्मोंमें कुशलता है।' इस कथनसे उन्हें भ्रमवश यह संदेह हो गया कि भगवान् कहीं तो ज्ञानकी प्रशंसा करते हैं और कहीं योगकी। इसीसे अर्जुनने बिना समझे ऐसा प्रश्न किया।

इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा—'अर्जुन ! इस लोकमें मेरे द्वारा दो प्रकारकी निष्ठा पहले कही गयी है, ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे और कर्मयोगियोंकी निष्काम कर्मयोगसे।' भाव यह है कि सृष्टिके आदिमें भगवान्ने सूर्यके प्रति यह योग कहा था और पूर्व अध्यायमें ग्यारहवेंसे तीसवें श्लोकतक ज्ञानयोगकी दृष्टिसे तथा इकतीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे अर्जुनके प्रति कहा है। दूसरे अध्यायके उनचालीसवें श्लोकमें उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि 'सांख्ययोगविषयक बुद्धि तो तुझे कह दी, अब तू कर्मयोगविषयक बुद्धि मुझसे सुन।' यदि अर्जुनका ध्यान इस कथनकी ओर चला जाता, तब तो उनको ऐसी शङ्का ही नहीं होती। यहाँ भगवान् स्पष्ट करते हैं कि 'मैंने मिले हुए-से वचन न तो कहे हैं और न अभी कह रहा हूँ। मैंने तो अलग-अलग विभाग करके ज्ञानयोगके साधकोंके लिये ज्ञानयोग और कर्मयोगके साधकोंके लिये कर्मयोग बतलाया है और बतला रहा हूँ तथा मैंने शास्त्रविहित निष्काम कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञानको कहीं श्रेष्ठ भी नहीं बतलाया है। मेरा कहना तो यह है कि मनुष्योंके लिये ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनोंकी दृष्टिसे कर्तव्य कर्म साधनरूप है, अतः अवश्य करना चाहिये।

'क्योंकि कर्म किये बिना नैष्कर्म्य-सिद्धिरूप कर्मयोगकी निष्ठा नहीं प्राप्त होती और कर्मोंका त्याग कर देनेमात्रसे ही ज्ञाननिष्ठाकी भी सिद्धि नहीं होती। साधारण मनुष्य एक क्षणके लिये भी सर्वथा कर्म किये बिना नहीं रह सकता। बाहरसे कर्मोंका सर्वथा त्याग करके मनसे विषयोंका चिन्तन करते रहना मिथ्याचार है और मन-इन्द्रियोंको वशमें करके निष्कामभावसे कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है। अतः मनुष्यको निष्कामभावसे करने योग्य कर्मोंको करते रहना चाहिये। कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, बिना कर्म किये शरीर-निर्वाह भी नहीं हो सकता; शास्त्रविहित यज्ञादि कर्म करनेके लिये प्रजापतिकी आज्ञा भी है और निष्कामभावसे उसका पालन करनेसे परम श्रेयकी प्राप्ति होती है। यज्ञादि कर्तव्य कर्मोंका पालन किये बिना भोगोंका उपभोग करनेवाला चोर है तथा कर्तव्यपालन करके यज्ञशेषसे शरीर-निर्वाहके लिये भोजनादि करनेवाला सब पापोंसे छूट जाता है। इसके विपरीत जो यज्ञादि न करके केवल शरीरपालनके लिये ही भोजन बनाकर खाता है, वह पापी है; क्योंकि

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे होती है, वर्षा यज्ञसे होती है और यज्ञ शास्त्रविहित कर्म करनेसे होता है। कर्म वेदसे और वेद अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है। अतः सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा शास्त्रविहित यज्ञादि कर्मोंमें व्यापक हैं। इसलिये परमात्माको सब जगह अनुभव करते हुए शास्त्रविहित कर्मोंको निष्काम-भावसे करना चाहिये; क्योंकि जो इस प्रकार शास्त्रविहित कर्म नहीं करता, वह इन्द्रियोंके सुखको भोगनेवाला पाप-जीवी पुरुष व्यर्थ ही जीता है।

'जो शास्त्रके अनुसार निष्कामभावसे कर्म करते-करते अन्तःकरण शुद्ध होनेपर परमार्थ-ज्ञानद्वारा परमात्माको यथार्थ रूपसे प्राप्त हो जाता है, उस आत्मामें ही रत, आत्मामें ही तृप्त और आत्मामें ही संतुष्ट पुरुषके लिये कोई भी कर्त्तव्य नहीं है। संसारमें उस पुरुषके द्वारा कर्म किये जाने और न किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंसे उसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है। फिर भी वह लोकसंग्रहके लिये कर्म करे तो उसके लिये कोई मनाही नहीं है। इसलिये मनुष्यको अनासक्त-भावसे कर्मका आचरण करना चाहिये; क्योंकि अनासक्त-भावसे कर्म करनेपर परमात्माकी प्राप्ति होती है और पूर्वकालमें जनकादिने भी कर्मोंके द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी। लोकसंग्रहकी दृष्टिसे भी तुझे कर्म अवश्य करना चाहिये; क्योंकि साधारण मनुष्य श्रेष्ठ महापुरुषके आचरणों-का अनुकरण करते और उनकी आज्ञाके अनुसार चलते हैं, इसलिये महापुरुषोंको भी लोकसंग्रहके लिये कर्म करना चाहिये।

''पार्थ! मेरे लिये तो न कुछ कर्त्तव्य है और न कुछ प्राप्तव्य ही है; फिर भी मैं लोकसंग्रहके लिये कर्म करता ही हूँ। यदि मैं सावधान होकर कर्म न करूँ तो दूसरे लोग भी शास्त्रविहित कर्मोंका त्याग करने लग जायँ। इस अवस्थामें सब लोग तो नष्ट-भ्रष्ट होकर वर्णसंकर बनें और मैं इसमें निमित्त माना जाऊँ। अतः कर्मासक्त अज्ञानी मनुष्य कर्म और उनके फलमें आसक्त होकर जिस प्रकार श्रद्धापूर्वक शास्त्रोक्त कर्मोंका आचरण करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानीको अनासक्त भावसे शास्त्रविहित कर्म करना चाहिये, उन कर्मासक्त अज्ञानियोंकी बुद्धिमें कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न नहीं करनी चाहिये, बल्कि स्वयं शास्त्रविहित कर्म करते हुए उनको भी कर्मोंमें लगाना चाहिये। वास्तवमें तो सम्पूर्ण कर्म प्रकृति-जन्य गुणोंसे ही होते हैं; किंतु अहंकारी मनुष्य अज्ञानसे 'मैं करता हूँ' इस प्रकार मान लेता है। गुण-कर्म-विभागके तत्त्वको जाननेवाला तत्त्ववेत्ता तो 'गुण ही गुणोंमें बरतते हैं' यों मानकर उनमें आसक्त नहीं होता और अज्ञानी मनुष्य गुण-कर्मोंमें आसक्त हो जाता है। उन अज्ञानियोंकी बुद्धि कर्म करनेसे विचलित न हो, इस बातको ध्यानमें रखकर तत्त्ववेत्ता ज्ञानीको भी लोकसंग्रहके लिये शास्त्रोंके अनुकूल कर्मोंका आचरण करना चाहिये।''

इस प्रकार सभी दृष्टियोंसे शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करना उचित सिद्ध करके भगवान्ने अर्जुनको आज्ञा दी कि 'तू मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशा, ममता और संतापसे रहित होकर युद्ध कर।'

भगवान्ने अर्जुनको निमित्त बनाकर सभी मनुष्योंके उद्धारके लिये यह उपदेश दिया है; अतः जो मनुष्य श्रद्धा-पूर्वक निष्काम भावसे उपर्युक्त सिद्धान्तके अनुसार कर्मोंका आचरण करते हैं, वे भी उन कर्मोंके बन्धनसे छूट जाते हैं किंतु जो भगवान्में दोषदृष्टि रखकर इस सिद्धान्तके अनुसार कर्म नहीं करते, वे अज्ञानी कल्याण-पथसे भ्रष्ट हो जाते हैं। अपने-अपने स्वभावके अनुसार सभी मनुष्योंको कर्म करने पड़ते हैं। ज्ञानी भी अपने स्वभावके अनुसार ही शास्त्रविहित कर्म करनेकी चेष्टा करता है। अतः स्वरूपसे कर्मोंका त्याग न करके सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें राग-द्वेषका त्याग करना चाहिये। राग-द्वेष ही साधकके कल्याण-मार्गमें शत्रु हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि राग-द्वेषके वश होकर अपने धर्मका त्याग कभी न करे; क्योंकि दूसरे वर्ण और आश्रमका धर्म अच्छी प्रकारसे पालन करनेपर भी अपने लिये पाप और भयदायक है तथा अपना धर्म साङ्गोपाङ्ग पालन न हो सके, तब भी कल्याणकारक है; इसलिये आसक्ति और कामनासे रहित होकर श्रद्धापूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करना चाहिये।

इसपर अर्जुनने यह पूछा कि 'मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात्कारसे लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?'

इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा कि 'आसक्तिस्वरूप रजोगुणसे उत्पन्न और क्रोधका उत्पादक काम ही अग्निके समान कभी तृप्त न होनेवाला, बड़ा भारी पापी और साधकका वैरी है। सम्पूर्ण पापोंकी उत्पत्तिका यही मूल है। जिस प्रकार

धुएँसे अग्नि, मैलसे दर्पण और जेरसे गर्भ ढका रहता है, इसी प्रकार विवेकियोंके नित्य वैरी इस कामसे उनका ज्ञान ढका रहता है। पर यह काम मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें स्थित रहकर उनके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करता है। अतः पहले इन्द्रियोंको और फिर मनको वशमें करके इस पापी कामको मार डालना चाहिये; क्योंकि शरीर और प्राणोंसे तो इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंसे मन और मनसे बुद्धि श्रेष्ठ और सूक्ष्म है एवं बुद्धिसे आत्मा अत्यन्त श्रेष्ठ, सूक्ष्म और महान् है। इस प्रकार समझकर, बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके इस दुर्जय कामरूप शत्रुको सर्वथा नष्ट कर देना चाहिये।'

चौथा अध्याय

इस चौथे अध्यायका नाम 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' है। यहाँ 'ज्ञान' शब्दसे 'परमार्थ-ज्ञान', 'कर्म' शब्दसे 'कर्मयोग' और 'संन्यास' शब्दसे 'ज्ञानयोग' समझना चाहिये।

दूसरे अध्यायके चालीसवें श्लोकसे लेकर तीसरे अध्यायके अन्ततक जिस योगकी व्याख्या की गयी, उसीके लिये भगवान्ने बतलाया कि 'मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे, सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा था। इस प्रकार परम्परासे प्राप्त हुए इस योगको राजर्षियोंने जाना था। परंतु इधर बहुत समयसे वह योग इस पृथ्वीपर लुप्तप्राय हो गया था। तू मेरा भक्त और सखा है, इसलिये मैंने वही पुरातन योग आज तुझे बताया है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य—गोपनीय विषय है।'

इसके बाद अर्जुनके यह प्रश्न करनेपर कि 'आपका प्राकट्य तो पीछे हुआ है और विवस्वान् आदि बहुत पहलेसे हैं, फिर आपने उन्हें कब किस तरह योगका उपदेश किया ?' भगवान् अपने अवतारके रहस्य एवं दिव्य जन्म-कर्मकी बात बताते हुए कहते हैं—'मेरे और तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं; उन सबको तू नहीं जानता, पर मैं जानता हूँ। मैं साक्षात् परमेश्वर, अजन्मा, अविनाशी और समस्त प्राणियोंका ईश्वर होता हुआ भी अपनी प्रकृतिको वशमें करके योगमायासे प्रकट होता हूँ। जब-जब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं स्वयं ही साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ, श्रेष्ठ पुरुषोंका उद्धार तथा पापियोंका विनाश करके धर्मकी स्थापना करनेके लिये प्रत्येक युगमें अवतार ग्रहण करता हूँ। मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं—निर्मल और अलौकिक हैं, इस प्रकार जो तत्त्वसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता, मुझे ही प्राप्त हो जाता है। पहले भी बहुत-से मनुष्य, जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे, अनन्यभावसे मेरे शरण होकर मेरे अलौकिक जन्म-कर्मोंके ज्ञानरूप तपसे पवित्र हो मुझे प्राप्त हो चुके हैं; क्योंकि जो मुझे जैसे भजते हैं, मैं भी उन्हें वैसे ही भजता हूँ। इस रहस्यको जानकर बुद्धिमान् मनुष्य मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।

'किंतु जो इस रहस्यको नहीं जानते, वे मुझको न भजकर देवताओंको भजते हैं; क्योंकि देवतालोग उनकी माँगकी पूर्ति शीघ्र ही कर देते हैं। पर मैं जब उनका हित होता है, तभी उनकी माँगकी पूर्ति करता हूँ, नहीं तो नहीं करता; क्योंकि गुण और कर्मोंके अनुसार चारों प्रकारके वर्ण मेरे द्वारा ही रचे गये हैं, किंतु कर्तापनका अभिमान और फलकी इच्छा न रखनेके कारण सृष्टि-रचनादि कर्मोंसे मैं बँधता नहीं। दूसरा जो कोई भी मुझको या मेरे जन्म और कर्मोंके इस रहस्यको जानता है, वह भी नहीं बँधता। पूर्वकालके भी बहुत-से मुमुक्षुओंने इस प्रकार समझकर निष्कामभावसे कर्मोंका आचरण किया है। तुमको भी उसी प्रकार करना चाहिये।

'कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषयमें बुद्धिमान् मनुष्य भी मोहित रहते हैं। कर्मकी गति गहन है; अतः शास्त्र-विहित कर्म, निषिद्ध कर्म और अकर्मका भी तत्त्व जानना चाहिये। मैं तुम्हें कर्म और अकर्मका तत्त्व बतलाऊँगा, जिससे तुम संसारसे मुक्त हो जाओगे। शास्त्रविहित क्रियाओंमें आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारका त्याग कर देनेसे वे इस लोक या परलोकमें सुख-दुःखादि फलोंका भोग करानेकी और पुनर्जन्मकी हेतु नहीं बनतीं—इस रहस्यको समझ लेना ही कर्ममें अकर्म देखना है। लोक-प्रसिद्धिके अनुसार मन, वाणी और शरीरके व्यापारको त्याग देनेका ही नाम अकर्म है; वह त्यागरूप अकर्म भी आसक्ति, फलेच्छा, ममता और अहंकारपूर्वक किया जानेपर पुनर्जन्मका हेतु बन जाता है—इस रहस्यको समझ लेना ही अकर्ममें कर्म देखना है। जो मनुष्य इस प्रकार देखता है, वही मनुष्योंमें ज्ञानी, योगी और समस्त कर्मोंको करनेवाला है। जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्प (आसक्ति) से रहित हैं एवं ज्ञानरूप अग्निके द्वारा जिसके सारे कर्म भस्म हो गये हैं, ऐसे मनुष्य-को ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं। जो पुरुष सांसारिक

आश्रयसे रहित तथा परमानन्दमय परमात्मामें नित्य तृप्त है एवं कर्मोंके फल और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह भलीभाँति समस्त आवश्यक कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। वह आशा और परिग्रहसे रहित, अपने मनको वशमें रखनेवाला, जितात्मा पुरुष केवल शरीरनिर्वाहके लिये कर्म करता हुआ भी पापका भागी नहीं होता। अपने-आप जो कुछ प्राप्त हो, उसीमें संतुष्ट, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों और ईर्ष्यासे रहित तथा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला कर्मयोगी कर्म करके भी कर्मोंसे नहीं बँधता; क्योंकि उस आसक्ति और अभिमानसे रहित, परमात्माके ज्ञानमें स्थितचित्त और लोक-संग्रहके लिये यज्ञरूप कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं। इसलिये तुझे निष्कामभावसे लोकसंग्रहके लिये यज्ञरूप कर्मोंका आचरण करना चाहिये।'

आत्माके उद्धारके लिये निष्कामभावसे कोई भी शास्त्र-विहित कर्म किया जाय, उसीका नाम 'यज्ञ' है। इसी भावको लेकर यहाँ 'यज्ञ'के नामसे भगवान्‌ने कई प्रकारके कल्याण-कारक साधन बतलाये हैं।

जिस ब्रह्मचिन्तनरूप साधनमें स्रुक्-स्रुवादि उपकरण, हवन करनेयोग्य द्रव्य, अग्नि, यज्ञकर्ता और प्राप्तव्य फल—ये सब ब्रह्म ही हैं, वह 'ब्रह्मयज्ञ' है। निष्काम-भावसे देवताओंका पूजन करना 'देवपूजनरूप यज्ञ' है। सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अपनेआपको विलीन कर देना, परमात्मामें एकीभावसे स्थित हो जाना 'आत्मा-परमात्माका अभेददर्शनरूप यज्ञ' है। श्रोत्र आदि सभी इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे रोककर अपने वशमें करना 'इन्द्रिय-संयम-रूप यज्ञ' है। वशमें की हुई और रागद्वेषरहित इन्द्रियों-द्वारा शब्दादि विषयोंको ग्रहण करते हुए भी उनसे प्रभावित न होना, हर्ष-शोकादि विकारोंसे शून्य रहना 'विषयहवनरूप यज्ञ' है। परमात्माके स्वरूपमें योगद्वारा मन-का निरोध करनेपर इन्द्रियोंकी और प्राणोंकी समस्त क्रियाओं-का स्वतः ही रुक जाना और साधकका ज्ञानस्वरूप परमात्मामें स्थित हो जाना 'आत्मसंयमयोगरूप यज्ञ' है। ईश्वरार्पणबुद्धि-से लोकसेवामें द्रव्य लगाना 'द्रव्ययज्ञ' है। मन-इन्द्रियोंका संयम, एकादशी आदि व्रत-उपवास और धर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना 'तप-यज्ञ' है। यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह), नियम (शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-भक्ति), आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार (अपने-अपने विषयोंके संयोगसे रहित होनेपर इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना), धारणा, ध्यान और समाधिरूप अष्टाङ्गयोगका अनुष्ठान करना 'योगरूप यज्ञ' है। अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त हो यत्नपूर्वक भगवत्प्राप्तिविषयक गीतादि शास्त्रोंका अर्थ और भाव-सहित अध्ययन करना 'स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ' है। बार-बार बाहरकी वायुको नासिकाद्वारा खींचकर शरीरके भीतर ले जाकर वहीं रोक देना 'अपानमें प्राणका हवन करनारूप आभ्यन्तर 'कुम्भक' है; इसीको 'पूरक प्राणायाम' कहते हैं। बार-बार भीतरकी वायुको बाहर निकालकर वहीं रोक देना 'प्राणमें अपानका हवन करनारूप बाह्य कुम्भक' है; इसीको 'रेचक प्राणायाम' कहते हैं। न तो बाहरकी वायुको भीतर ले जाकर रोकना और न भीतरकी वायुको बाहर लाकर ही रोकना, प्रत्युत अपने-अपने स्थानोंमें स्थित पाँचों वायुभेदोंको वहीं रोक देना, प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें हवन करनारूप 'केवल कुम्भक' है; इसीको 'स्तम्भवृत्ति प्राणायाम' कहते हैं।

उपर्युक्त यज्ञोंके द्वारा पापोंका नाश होनेपर साधक अन्तःकरणकी प्रसन्नतारूप अमृतको प्राप्त होकर सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं। किंतु यज्ञरहित पुरुषको इस लोक और परलोकमें कहीं भी सुख-शान्ति नहीं है। इनके सिवा और भी बहुत प्रकारके क्रियासाध्य यज्ञोंका वेदोंमें वर्णन है। उन यज्ञोंका तत्त्व जानकर निष्काम-भावसे साधन करनेपर मनुष्य संसारसे मुक्त हो जाता है। इन यज्ञोंमें द्रव्ययज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है; क्योंकि जितने भी कर्म हैं, वे सब ज्ञानमें ही समाप्त होते हैं, ज्ञान ही उनकी परमावधि है। ऐसे ज्ञानको तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुषोंसे दण्डवत् प्रणाम, सेवा और सरलतापूर्वक प्रश्नद्वारा जानना चाहिये; क्योंकि इसको जानकर मनुष्य फिर मोहको प्राप्त नहीं होता और इस ज्ञानसे मनुष्य प्रथम सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें और फिर परमात्मामें अनुभव करता है। संसारमें जितने भी पापी हैं, उन सबमें सबसे महान् पापाचारी भी इस ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे तर सकता है। जैसे प्रज्वलित अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मोंको भस्म कर देती है। इसलिये इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला कुछ भी नहीं है। साधक समबुद्धिरूप योगका साधन करते-करते अन्तःकरण शुद्ध होनेपर स्वतः ही उस ज्ञानका आत्मामें अनुभव करता है। श्रद्धासे साधनकी

तत्परता और उससे इन्द्रियोंका संयम होनेपर यह ज्ञान प्राप्त होता है। एवं ज्ञान प्राप्त होनेपर मनुष्य तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है। परंतु जो विवेक और श्रद्धासे रहित संशयात्मा है, वह मनुष्य परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है। उस संशयात्माके लिये इस लोक और परलोकमें कहीं भी सुख नहीं है। इसके विपरीत, जिसने समबुद्धिरूप योगके द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको परमात्मामें अर्पण कर दिया है, जिसने विवेकके द्वारा समस्त संशयोंका नाश कर दिया है, ऐसे स्वाधीन अन्तःकरणवाले मनुष्यको कर्म नहीं बाँधते। इसलिये मनुष्यको समबुद्धिरूप योगमें स्थित होकर अज्ञानजनित संशयका विवेकरूप तलवारद्वारा छेदन करके अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये।

पाँचवाँ अध्याय

इस पाँचवें अध्यायमें कर्मयोग और सांख्ययोगका वर्णन है। सांख्ययोगका ही पर्यायवाची शब्द 'संन्यास' है। इसलिये इस अध्यायका नाम 'कर्मसंन्यासयोग' रखा गया है।

'कर्मसंन्यास'का अर्थ है—सम्पूर्ण कर्मोंके प्रति कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर ऐसा समझना कि गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं तथा निरन्तर परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे स्थित रहना और सर्वदा सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि रखना। यही 'ज्ञानयोग' है। इसीकी प्रशंसा चौथे अध्यायमें (श्लोक ३३ से ३८ तक) की गयी है तथा निष्कामभावसे कर्म करनारूप कर्मयोगकी प्रशंसा भी भगवान् जगह-जगह करते आये हैं। इसलिये अर्जुनका यह कहना उचित ही है कि 'आप कर्मसंन्यास यानी ज्ञानयोग और कर्मयोग—इन दोनोंकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मेरे लिये भलीभाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको कहिये।'

इसके उत्तरमें भगवान्ने कहा कि 'कर्मसंन्यास और कर्मयोग—ये दोनों ही परम कल्याण करनेवाले हैं; परंतु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्यासकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है, क्योंकि वह साधन करनेमें सुगम है। जो न तो किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है, वह कर्मयोगी हर्ष-शोक और राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे रहित होनेके कारण सदा संन्यासी ही समझा जाने योग्य है; इसीलिये वह सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है। वास्तवमें उन दोनोंका फल एक होनेसे वे दोनों एक ही हैं। दोनों साधनोंमेंसे किसी भी एक साधनका अच्छी प्रकार अनुष्ठान करनेपर दोनोंका फल एक—परमपदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति ही होता है। इस तत्त्वको न जाननेवाले मूढ मनुष्य सांख्य और योगको पृथक्-पृथक् फल देनेवाला कहते हैं। किंतु इस तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी महात्मा ऐसा नहीं कहते; क्योंकि सांख्य यानी ज्ञानयोगके साधनद्वारा ज्ञानयोगियोंको जिस परमपदकी प्राप्ति होती है, कर्मयोगके द्वारा कर्मयोगियोंको भी उसी परम पदकी प्राप्ति होती है। अतः सांख्यके और योगके साधनका फल एक होनेसे उन्हें एक देखना ही यथार्थ देखना है तथा पहले कर्मयोगका साधन किये बिना ज्ञानयोगका साधन कठिन है। इतना ही नहीं, कर्मयोगमें यह विशेषता भी है कि भगवान्के स्वरूपका मनन करनेवाला मुनि कर्मयोगके साधनद्वारा शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। जिसके मन और इन्द्रियाँ वशमें हैं, जिसका अन्तःकरण शुद्ध है और समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा भगवान् ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। इन सब कारणोंसे ज्ञानयोगकी अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है, किंतु देहमें अभिमान रहते हुए सांख्ययोगकी सिद्धि नहीं हो सकती; इसलिये तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी देखना, सुनना, स्पर्श करना, चलना, सोना, श्वास लेना, बोलना आदि क्रियाओंको करता हुआ यह समझता है कि सब इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं, मैं कुछ भी नहीं करता तथा जो कर्मयोगी सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता। वह ममत्वबुद्धिसे रहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करता है। अतः वह कर्मोंके फलको त्यागकर भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है, किंतु सकामी पुरुष कामनाके कारण फलमें आसक्त होकर बँधता है। इसलिये मनुष्यको निष्कामभावसे ही कर्म करना चाहिये।

अब सांख्ययोगीकी स्थितिके विषयमें बतलाया जाता है। जिसका अन्तःकरण वशमें है, ऐसा सांख्ययोगी पुरुष न कुछ करता है और न करवाता है। वह नौ द्वारोंवाले शरीर-रूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर अर्थात् इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें बरत रही हैं—यों मानता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें आनन्दपूर्वक स्थित रहता है। परमेश्वर न तो मनुष्योंके कर्त्तापनकी सृष्टि करते हैं, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं किंतु स्वभाव ही बरत रहा है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं।

सर्वव्यापी परमात्मा न तो किसीके पापकर्मको ग्रहण करते हैं और न किसीके शुभ कर्मको ही । जीव अज्ञानके कारण अपनेमें और ईश्वरमें कर्त्ता-भोक्तापनकी कल्पना करके मोहित हो रहे हैं । तत्त्वज्ञानके द्वारा जिनका अज्ञान नष्ट हो चुका है, उनका वह ज्ञान सूर्यकी भाँति परमात्माका साक्षात् करा देता है । परमात्माका साक्षात्कार करनेके लिये सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका बार-बार मनन करना चाहिये । बार-बार मनन करनेसे मन ब्रह्ममें विलीन हो जाता है । फिर बुद्धिसे निश्चय किये हुए उस ब्रह्मका ध्यान करनेसे बुद्धि भी उसमें विलीन हो जाती है । ब्रह्मके स्वरूपमें इस साधककी जो स्थिति होती है; उसे सविकल्प समाधि भी कहते हैं । सविकल्प समाधिमें ब्रह्मके नाम, रूप और ज्ञानका अनुभव रहता है । फिर अपने-आप ही ब्रह्ममें निर्विकल्प स्थिति हो जाती है । तब उस पुरुषके सारे पाप ज्ञानके द्वारा नष्ट हो जाते हैं और वह परमात्माकी प्राप्तिरूप परमगतिको प्राप्त हो जाता है । परमगतिको प्राप्त होनेपर उसका विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी और चाण्डाल आदि सबमें समभाव हो जाता है । मन-बुद्धिका समतामें स्थित हो जाना ही ब्रह्मप्राप्तिकी कसौटी है, क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है; इसलिये जिसकी समतामें स्थिति है उसकी ब्रह्ममें ही स्थिति है । उसी पुरुषको जीवन्मुक्त कहते हैं। वह स्थितप्रज्ञ, ब्रह्ममें स्थित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष अनुकूलको पाकर हर्षित नहीं होता और प्रतिकूलको पाकर उससे द्वेष नहीं करता ।

परमात्माकी प्राप्तिके लिये ज्ञानयोगके अनुसार दूसरा यह साधन भी है कि सारे संसारके पदार्थोंसे अनासक्त होकर अपने आत्मामें ही उस आनन्दस्वरूप ब्रह्मका ध्यान किया जाय । इस प्रकार ध्यान करनेपर उसे अक्षय सुखरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न सांसारिक सुखभोगोंको दुःखका हेतु, विनाशशील और क्षणभङ्गुर समझकर विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता । जो साधक इस जीवनकालमें ही शरीर छूटनेसे पहले विवेकके द्वारा काम और क्रोधके वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही योगी है और वही सुखी है । वह ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित योगी अपने आत्मामें ही आनन्द और ज्योतिःस्वरूप परमात्माका अनुभव करता है एवं उसीमें रमण करता है । इस साधनके प्रभावसे वह विज्ञानानन्दघन निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है । ज्ञानके द्वारा जिनके सारे पाप और संशय नष्ट हो चुके हैं और जो सारे भूतोंके हितमें रत हैं, उन काम और क्रोधसे रहित, संयतचित्त ज्ञानी महात्माको सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त हैं ।

इसके सिवा परमात्माकी प्राप्तिका और भी उपाय बताया जाता है 'संसारके बाहरके विषयभोगोंको बाहर ही त्यागकर नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करे तथा प्राण और अपान वायुको सम करके इन्द्रिय, मन और बुद्धिको अपने वशमें करे । ऐसा इच्छा, भय और क्रोधसे रहित तथा मोक्षके परायण हुआ पुरुष नित्यमुक्त ही है ।'

इसके अतिरिक्त परमात्माकी प्राप्तिका अन्य उपाय भी बताते हैं—'भगवान्‌को यज्ञ और तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर, सम्पूर्ण प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थ-रहित दयालु और प्रेमी जानकर मनुष्य परमशान्तिरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।'

(क्रमशः)

तमासे चार दिन के

पाय प्रभुताई कछु कीजिये भलाई, यहाँ
　　नाहीं थिरताई, बैन मानिये कबिन के।
जस अपजस रहि जात है जगत बीच,
　　मुलक खजाना गये "बेनी" साथ किन के॥
और महिपालन की गिनती गिनाऊँ कहा,
　　रावन से ह्वै गये, त्रिलोकी बस जिन के।
चोपदार चाकर चमरपति चमूपति,
　　मंदिर मतंग ये तमासे चार दिन के॥ १॥

सत्सङ्ग-सुधा

[गताङ्कसे आगे]

७६. व्रजप्रेममें केवल त्याग-ही-त्याग है। उसमें रत्तीभर भी कहीं अपने सुखकी वासना नहीं है। यद्यपि स्वयं श्रीकृष्ण ही राधारानी बने हुए हैं तथा श्रीराधारानी ही अनन्त असंख्य गोपियाँ बनती हैं, वहाँ श्रीकृष्ण, श्रीराधा एवं श्रीगोपीजनोंमें तिलभर भी कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि वहाँ सब कुछ सर्वथा सच्चिदानन्दमय है, श्रीकृष्ण ही उतने रूपोंमें प्रकट रहते हैं, फिर भी लीलाकी सिद्धिके लिये सब गोपीजनोंका अपना-अपना एक भाव रहता है। श्रीकृष्णको सभी अपना प्राणवल्लभ मानती हैं; परंतु किसी भी गोपीके हृदयमें अपने सुखकी किंचिन्मात्र भी इच्छा नहीं रहती, सभीकी चेष्टा इसी-लिये होती है कि कैसे हमारे प्रियतम प्राणवल्लभको सुख हो। तथापि सबकी सेवा करनेका अलग-अलग ढंग होता है और सबका ढंग मिलकर इतनी सुन्दर विलक्षण लीला बन जाती है कि उसकी कोई उपमा नहीं, कोई दृष्टान्त नहीं कि उसे समझा जाय।

प्रेमका वर्णन करते हुए वैष्णव आचार्य जो कहते हैं, वह संक्षेपमें इस प्रकार कहा जा सकता है—

१. जहाँ अपनी इन्द्रियोंके सुखकी वासना होती है, वहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ काम है।

२. जहाँ एकमात्र श्रीकृष्णको ही सुख मिले, यह आन्तरिक इच्छा है, उसका नाम प्रेम है।

३. काम और प्रेमको इसी कसौटीपर कसना चाहिये कि काममें प्रत्येक चेष्टा होगी इस उद्देश्यसे कि हमें सुख मिले, अधिक-से-अधिक हमें आनन्द मिले; और प्रेममें प्रत्येक चेष्टा इस उद्देश्यको लेकर होगी कि श्रीकृष्णको सुख हो, चाहे हमें सदा ही दुःख क्यों न मिलें।

४. उदाहरणके लिये एकमात्र श्रीगोपीजन ही हैं, जिनमें अपने सुखकी कोई वासना ही नहीं है और उनका समस्त व्यवहार ही श्रीकृष्णको सुख पहुँचाने-वाला होता है।

५. श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके लिये लोकधर्मका परित्याग कर देती हैं।

६. श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये वेदधर्मका परित्याग कर देती हैं।

७. श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये अपनी देहके सुखका त्याग कर देती हैं।

८. श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये समस्त संसारके व्यवहारको भी आवश्यकता पड़ते ही छोड़ देती हैं।

९. श्रीगोपियाँ श्रीकृष्णके सुखके लिये लज्जाका सर्वथा परित्याग कर देती हैं।

१०. श्रीगोपियोंमें श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेकी इतनी प्रबल उत्कण्ठा रहती है कि वे अपना धैर्य भी छोड़ देती हैं।

११. श्रीगोपियाँ अपने आपतकको भी भूलकर केवल श्रीकृष्णकी सेवा करती हैं।

इस प्रकार उनके जीवनमें एकमात्र श्रीकृष्णका सुख ही उद्देश्य होता है। यहाँतक कि वे अपने कुलधर्मका भी त्यागकर देती हैं इसलिये कि मेरे प्रियतमको सुख पहुँचे। उनका श्रीकृष्णके पास जाना इसलिये नहीं होता कि वहाँ जानेसे हमें सुख मिलेगा, बल्कि इसलिये कि श्रीकृष्णको हमारे जानेसे सुख मिलेगा।

इस गोपीप्रेमके राज्यमें सब कुछ सच्चिदानन्दमय होते हुए भी श्रीगोपियोंके कई भेद हैं। मुख्य चार भेद हैं—

१. नित्य गोपियाँ अर्थात् श्रीराधारानी, उनकी सखियाँ, दासियाँ एवं सहचरियाँ; श्रीचन्द्रावली एवं उनकी

दासियाँ, सखियाँ, सहचरियाँ आदि। ये अनादिकालसे हैं। इनमें कोई हेर-फेर अब हुआ हो, या होगा—यह बात बिल्कुल नहीं है। जैसे श्रीकृष्ण अनादिकालसे हैं, वैसे श्रीराधा एवं नित्य सखियाँ भी अनादिकालसे हैं और अनन्तकालतक रहेंगी। इनके अतिरिक्त जो भी गोपियाँ हैं, वे सब-की-सब साधनासे वहाँ पहुँची हुई हैं। कोई कभी, कोई कभी, इसी प्रकार साधनासे सम्मिलित हुई हैं। उनमें—

२. कुछ तो श्रुतियाँ हैं, जो साधना करके गोपी-देह पाकर लीलामें सम्मिलित हुई हैं।

३. कुछ देवताओंकी स्त्रियाँ हैं, जो समय-समयपर साधनाके द्वारा गोपी-देह पाकर लीलामें सम्मिलित हुई हैं।

४. कुछ ऋषि हैं, जो समय-समयपर साधनाके द्वारा गोपी-देह पाकर सम्मिलित हुए हैं। अब आगे भी जो मनुष्य, जो साधक साधना करेगा और साधनामें सफल होगा, वह भी गोपी-देह पाकर उस लीलामें सम्मिलित होगा।

अब तीन तो हैं साधनाके द्वारा बनी हुई गोपियाँ और एक प्रकारकी हैं नित्य गोपियाँ। इन्हीं नित्य गोपियोंके साथकी अत्यन्त विलक्षण लीला नित्य चलती रहती है और उसीके किसी एक अंशमें, जो साधना करते हैं, वे प्रवेश करते हैं। जितने ऊँचे अधिकारी होते हैं, उतनी ही ऊँचे अंशकी लीलामें प्रवेश करते हैं, ऊँचे स्तरोंकी लीलाओंको देखकर कृतार्थ होते हैं तथा उसमें स्वयं भी सेवाका अधिकार पाकर जीवन सफल करते हैं। अब जो नित्य सखियाँ हैं, दासियाँ हैं तथा स्वयं श्रीराधारानी एवं श्रीचन्द्रावलीजी हैं, इन सबका अलग-अलग भाव होता है अर्थात् एक-से-एक बढ़कर श्रीकृष्णका प्रेम इनमें होता है। सबसे ऊँचा एवं सर्वोत्तम जो प्रेमका रूप है, उसका विकास एकमात्र श्रीराधामें ही होता है।

इस प्रेम-लीलामें स्वकीया एवं परकीया—ये दो भाव होते हैं। स्वकीया सर्वथा निकुञ्जकी लीला है, महावाणीमें इसीका संक्षिप्त वर्णन है। परकीयामें गोष्ठ एवं निकुञ्जकी दोनों लीलाएँ सम्मिलित रहती हैं। अस्तु, इस गोष्ठ-निकुञ्जकी सम्मिलित लीलामें जितनी गोपियाँ हैं, सब परकीयाभावकी हैं। उस दिन मैंने आपसे कहा था कि स्वयं श्रीकृष्ण ही अपनी एक-एक छायाका निर्माण करके उन गोपियोंके एवं स्वयं श्रीराधारानीके भी स्वामी बनते हैं तथा फिर वहाँ अति पावनी अति उच्च स्तरके त्यागकी लीला होती है। श्रीगोपीजन सभी कुछका त्याग श्रीकृष्णके लिये कर देती हैं। यही प्रेमकी पराकाष्ठा है कि प्रियतम श्यामसुन्दरके सुखके लिये सब कुछका त्याग बिना हिचकके हो जाय।

अब एक बात याद रखिये—जैसे मूलमें एक श्रीकृष्ण हैं, वैसे मूलमें केवल एक राधारानी ही हैं। पर राधारानी ही स्वयं श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ललिता, विशाखा, चित्रा एवं अनन्त सखियों-दासियों तथा चन्द्रावलीजीका रूप धारण कर लेती हैं। इसको कायव्यूह-निर्माण कहते हैं। अर्थात् श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये, तरह-तरहकी लीला रच-रचकर सुख पहुँचानेके लिये राधारानी कायव्यूहकी रचना करके अपनेको अनन्त नित्य गोपियोंके रूपमें अनादिकालसे प्रकट किये हुए हैं। इन्हीं नित्य गोपियोंके यों तो अनन्त विभाग हैं, पर मुख्य विभाग श्रीराधा एवं चन्द्रावलीजीका है। श्रीराधा ही चन्द्रावलीजी हैं, पर इन दोनोंके दल अलग-अलग होते हैं। उस दिन जो खण्डिताके पद पढ़े थे, वह इन्हीं दो दलोंको लेकर होनेवाली लीलाका वर्णन था। श्रीकृष्ण जब राधारानीके पास आते हैं, तब चन्द्रावलीजी रूठकर मान करती हैं और जब चन्द्रावलीजीके पास श्रीकृष्ण चले जाते हैं, तब श्रीराधाजी रूठकर मान करती हैं। यही संक्षेपमें मानलीलाका सूत्र है। इसके अत्यन्त सुन्दर-सुन्दर रूप हैं एवं अत्यन्त विलक्षण-विलक्षण लीलाएँ होती हैं; सबका वर्णन कोई भी कर ही नहीं सकता, क्योंकि ये अनिर्वचनीय और अनन्त हैं।

पर असलमें बात क्या है, यह भी समझ लेना चाहिये। श्रीकृष्णको अधिक-से-अधिक सुख मिले, इसलिये श्रीराधाजी एवं श्रीचन्द्रावलीजी मान करती हैं; तथा मान करनेमें भी कितना ऊँचा-ऊँचा भाव होता है, यह आपको श्रीराधाजीके प्रेमप्रलापकी कुछ बातें लिखकर कभी समझानेकी चेष्टा कर सकता हूँ। बीचमें यह लिखना भूल गया कि श्रीराधाकी सखियाँ ललिता आदि एवं श्रीचन्द्रावलीकी सखियाँ शैव्या आदि दोनों इस चेष्टामें रहती हैं कि कैसे श्रीकृष्णको अपनी-अपनी सखीके कुञ्जमें ले जायँ। श्रीचन्द्रावलीकी सखी राधारानीकी सखियोंकी दिव्य प्रेममयी वञ्चना करती रहती हैं और राधारानीकी सखियाँ चन्द्रावलीकी सखियोंकी वञ्चना करके श्रीकृष्णको ले जाती हैं। श्रीकृष्णको दोनोंको ही प्रसन्न करना पड़ता है। उसके सामने उसकी सुननी पड़ती है, उसके सामने उसकी।

यों तो यह लीला अनिर्वचनीय है और इसके किसी भी अंशको पूरा-पूरा समझना असम्भव है। पर पढ़-सुनकर जीवन पवित्र करके श्रीकृष्णकी कृपासे उनका दर्शन करनेके लिये ही साधना करनी पड़ती है तथा जिन संतोंको जो अनुभव हुआ है तथा ऋषि-महर्षि जो इस प्रकारकी लीलाएँ शास्त्रमें लिख गये हैं, उन्हींको आधार बनाकर मेरी तुच्छ बुद्धिमें जो आयेगा, लिख सकता हूँ।

यह लीला अनन्त है; जो भक्त जितना ऊँचा अधिकारी होता है, उसे उतने ऊँचे दर्जेकी लीलाका दर्शन होता है। उसी लीलामेंसे एक प्रकारकी लीलाको उदाहरण देकर आपको समझाता हूँ। श्रीकृष्णकी एक लीला है, जिसे दैनन्दिनी लीला कहते हैं, अर्थात् वह प्रतिदिन प्रातःसे लेकर राततक चौबीस घंटे एक-एक प्रकारकी होती है। इसीको अष्टकालीन लीला भी कहते हैं। स्वकीयाभावकी अष्टकालीन लीला दूसरी है। यहाँ परकीयाभावकी अष्टकालीन लीला बता रहा हूँ। इस लीलाका बहुत संक्षेपमें यह रूप है—श्रीकृष्णकी उम्र चौदह वर्ष कई महीने रहती है। श्रीराधारानी उनसे कुछ छोटी रहती हैं। यही उम्र इनकी अनादिकालसे है और अनन्तकालतक रहेगी। इसी रूपको 'नित्य-किशोर एवं नित्य-किशोरी' का रूप कहते हैं तथा इतने ही रूपमें सदा रहकर यह लीला अनादिकालसे चलती आ रही है और अनन्तकालतक चलती रहेगी। पर विलक्षणता यह है कि यद्यपि आधार तो एक रहेगा, पर यह रोज नयी-नयी होती रहती है और नयी-नयी ही होती रहेगी; क्योंकि असलमें यह जड-जगत्‌की लीला नहीं है, यह है स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूत लीला। अतएव इसमें नित्य-नूतनता रहेगी ही।

सूत्ररूपसे ही बहुत संक्षेपमें लिख दे रहा हूँ, विस्तार तो सारा जीवन लिखा जाय तो भी समाप्त होनेका नहीं है। यह लीला ऐसे प्रारम्भ होती है—प्रातःकाल निकुञ्जमें श्रीप्रिया-प्रियतम सोये रहते हैं, वृन्दादेवीके इशारेसे शुक-सारिका आदि पक्षी उन्हें जगाते हैं। जगानेके बाद सखियाँ दोनोंकी तरह-तरहसे सेवा करती हैं। सेवा होनेके बाद श्रीकृष्ण अपने घर चले जाते हैं तथा रातके समय मैया यशोदा जहाँ उन्हें सुला गयी थीं, वहीं जाकर चुपचाप सो जाते हैं। राधारानी भी घर आकर सो जाती हैं। फिर वहाँ श्रीकृष्णको मैया उठाती हैं। वे हाथ-मुँह धोकर दतुवन करते हैं और गोशालामें जाकर गाय दुहते हैं। फिर स्नान करते हैं। इधर सखियाँ राधारानीको उठाती हैं। मुँह धुलाकर दतुवन आदि कराकर उबटन लगाती हैं, फिर स्नान कराती हैं, फिर शृङ्गार करती हैं। इसी समय मैया यशोदाकी एक सखी राधारानीको बुलाने आ जाती है कि 'चलो, मैया तुम्हें रसोई बनानेके लिये बुला रही हैं।' उनकी साससे कहकर वह उन्हें ले जाती है, वहाँ राधारानी रसोई बनाती हैं। उनके बने हुए भोजनको श्यामसुन्दर आरोगते हैं। राधारानीके द्वारा मैया रसोई इसीलिये बनवाती है कि इनके हाथकी रसोईको

श्यामसुन्दर बड़े प्रेमसे खाते हैं तथा राधारानीको यह वर मिला हुआ है कि जो इसके हाथकी रसोई खायेगा, उसकी आयु बढ़ेगी। यशोदा सोचती हैं कि मेरा लल्ला बहुत दिन जीयेगा, इसीलिये नित्य इन्हें प्रार्थना करके बुलवाती हैं। इसके बाद मैया स्वयं बहुत तरहसे कहकर राधारानीको भोजन कराती हैं। फिर श्यामसुन्दर गाय चरानेके लिये वनमें जाते हैं। वे गाय चराने जाते हैं तथा राधारानी एवं सखियाँ वनमें फूल चुननेके बहानेसे तथा सूर्य-पूजाके बहानेसे वनमें चली जाती हैं। वहाँ वृन्दादेवीका सारा प्रबन्ध ठीक रहता है। श्रीकृष्ण भी संकेतपर पहुँच जाते हैं। वहाँ मिलन होता है एवं ढाई पहरतक तरह-तरहकी लीला होती है। इसके बाद श्यामसुन्दर वनमें अपने सखाओंके पास चले जाते हैं और राधारानी घर लौट आती हैं। वे फिर श्यामसुन्दरके लिये रसोई बनाती हैं, स्नान करती हैं तथा श्रृङ्गार करके अपने महलकी अटारीपर चढ़कर श्यामसुन्दरके वनसे लौटनेकी बाट देखती हैं। सायंकाल होनेपर श्यामसुन्दर लौटते हैं, सखियोंकी भीड़ लग जाती है। मैया श्यामसुन्दरको गोदमें लेकर उनका मुँह चूमती हैं, शरीर पोंछकर स्नान कराती हैं, सखाओंके साथ उन्हें कुछ जलपान कराती हैं। श्यामसुन्दर गाय दुहने चले जाते हैं, गाय दुहकर लौटते हैं तथा नन्दबाबा आदि बड़े-बड़े गोपोंके साथ बैठकर भोजन करते हैं। भोजन करनेपर नन्दबाबाका दरबार लगता है, उसमें खूब नाच-गान होता है। नन्दबाबाके दोनों बगलमें बैठकर श्रीकृष्ण एवं दाऊजी तमाशा देखते हैं। फिर मैया श्यामसुन्दरको बुला लेती हैं तथा दूध पिलाकर एक कमरेमें सुला देती हैं। जब मैया चली जाती हैं, तब श्यामसुन्दर चुपकेसे निकलते हैं और जहाँपर संकेत बँधा होता है, वहाँ जा पहुँचते हैं। इधर राधारानीके पास मैया यशोदा बहुत-सी भोजन-सामग्री भेजती हैं। सखियाँ चालाकीसे श्यामसुन्दरका अधरामृतसिक्त प्रसाद भी ले जाती हैं। राधारानी एवं सखियाँ भोजन करती हैं, फिर श्रृङ्गार करके वृन्दादेवीकी दासीके पीछे-पीछे छिपी हुई वहाँ पहुँचती हैं। श्यामसुन्दर एवं श्रीराधाका मिलन होता है। वहाँ ढाई पहर राततक तरह-तरहकी लीलाएँ, वनविहार, जलविहार एवं भोजन आदि करके किसी कुञ्जमें प्रिया-प्रियतम विश्राम करते हैं। दूसरे दिन प्रातः उठनेकी लीला पहले लिखी ही गयी है। इस प्रकार प्रतिदिन अनादिकालसे यह लीला चल रही है और अनन्तकालतक चलती रहेगी। जिन भक्तोंको इस लीलाके दर्शन हुए हैं, उन्होंने बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है तथा बहुतोंने साधनाके लिये भी इस लीलाका विस्तार किया है। ग्रन्थ भरे पड़े हैं। अगणित साधक अबतक हो चुके हैं और न जाने किन-किनको दर्शन भी हो चुके हैं। जो वाणीमें आ सका है, उसका भी बड़े संकोच और संक्षेपसे उन्होंने वर्णन किया है। वास्तवमें तो यह सर्वथा अनिर्वचनीय लीला है। मन-बुद्धिकी सामर्थ्य नहीं कि इसे समझ सके। भगवान्‌की असीम कृपा प्राप्त करके लाखों-करोड़ों भक्तोंमें कोई विरले भक्त इस लीलाका अनुभव कर पाते हैं। बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि न जाने कितनी तपस्या करते हैं, तब कहीं जाकर इसमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होता है। अवश्य ही जो सर्वथा सम्पूर्णरूपसे अपने आपको श्रीप्रिया-प्रियतमके चरणोंमें न्यौछावर कर देता है, उन्हींकी कृपापर ही एकमात्र निर्भर हो जाता है, उसके लिये उनकी कृपासे ही इसका दर्शन सुलभ हो जाता है।

प्रतिदिन नयी-नयी लीला होती रहती है और जब साधकका मन फँस जाता है, तब तो एक लीला ही प्रतिदिन नयी हो जाती है, उसका मन हटना ही नहीं चाहता। यह तो ध्यान होनेपरकी अवस्था है। मैं तो बहुत ही साधारण व्यक्ति हूँ—न मेरा मन स्थिर हुआ है, न ध्यान लगा है, न दर्शन हुए हैं। श्रीकृष्णकी कृपासे ये बातें सुनने-पढ़नेको मिल गयीं, यही मेरे लिये अत्यन्त सौभाग्यकी बात समझता हूँ तथा जीवनको पवित्र

करनेके लिये, एवं आप प्रेमसे सुनते हैं, इसलिये सुनाता हूँ।

७७. जैसे एक लीला फिल्मकी रील है—
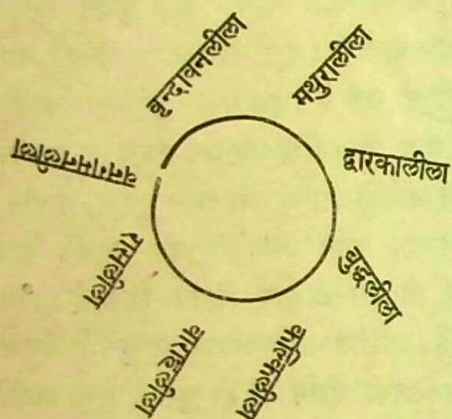
अनादिकालसे जो लीलाएँ हुई हैं और अनन्त कालतक जो लीलाएँ होंगी, वे सब-की-सब भगवान्‌के शरीरमें वर्तमानकी तरह फिल्मकी भाँति सजी रखी हैं। अब यही फिल्म घूमेगा और भक्तकी जो इच्छा होगी, जो लीला वह देखना चाहेगा, भगवान्‌की इच्छासे उसी लीलावाला हिस्सा घूमकर उसके सामने आ जायगा। जब उद्धव पहले मिले, तब उनका अधिकार कुछ कम था। इसलिये पहले वियोगकी लीला उन्हें दिखायी पड़ी। फिर श्रीगोपीजनोंका दर्शन होनेके बाद उससे भी परे एक अत्यन्त विचित्र लीला है, जिसमें यद्यपि संयोग-वियोग दोनों होते हैं; फिर भी जो अत्यन्त विलक्षण है। उसीमेंकी पहली, संयोगकी लीला उन्हें देखनेको मिली और उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण तो यहीं हैं, यहाँसे कहीं गये ही नहीं। इससे और भी परेकी लीला थी, किंतु सबको उद्धवने थोड़े ही देखा था!

जब श्रीगोपीजनोंकी कृपासे वह अधिकार प्राप्त हुआ, श्रीकृष्ण एवं गोपीजनोंके प्रेमका प्रभाव कुछ-कुछ विदित हुआ एवं श्रीकृष्णकी कुछ अत्यन्त परेकी लीलाओंके दर्शन उन्हें होते हैं, तब उद्धवकी आँखें खुलती हैं और वे यह प्रार्थना करते हैं कि 'हे विधाता! व्रजमें मनुष्यका शरीर मिलना तो दुर्लभ है; यदि मुझे तुम एक झाड़ी, लता, घासका तिनका ही बना दो, तो फिर तो मेरा काम बन जाय। श्रीगोपीजनोंके चरणोंकी धूलि मुझपर उड़-उड़कर पड़े और मैं कृतार्थ हो जाऊँ, बस, इतनी दया कर दो—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ॥

कैसे होउँ द्रुम लता बेलि कुंजन बन माहीं।
आवत जात सुभाय परै मो पै परछाहीं ॥
सोऊ मेरे बस नहीं, जो कछु करौं उपाय।
मोहन होंहिं प्रसन्न जो, तौ बर मागउँ जाय ॥
कृपा करि देहिं जो।

"हाय! मैं कैसे इस व्रजमें लता बन जाऊँ? अरे, कम-से-कम, मुझपर श्रीगोपियोंकी परछाँही तो इस प्रकार पड़ जायगी; बस, इतना ही मेरे लिये अलं है। पर हे भगवन्! मैं क्या करूँ, यह तो मेरे वशकी बात नहीं है। मेरा अधिकार होता तो अभी यहीं लता बन-कर मैं सदाके लिये रह जाता। हाँ, यदि मोहन, प्यारे श्यामसुन्दर प्रसन्न हो जायँ तो मेरा काम बन जाय। मैं उनसे जाते ही यही माँगूँगा कि 'हे गोपीनाथ! मैं तुमसे कुछ भी नहीं चाहता; केवल इतनी कृपा कर दो कि मैं व्रजमें एक लता बन जाऊँ।' पर मेरा भाग्य, पता नहीं, ऐसा होगा या नहीं। पता नहीं श्यामसुन्दर मुझे यह वर देंगे कि नहीं।" यह दशा हुई थी तब, जब श्रीगोपीजनोंके दर्शन उद्धवको हुए। इतना होनेपर भी उद्धवको लीलामें प्रवेश करनेका अधिकार नहीं प्राप्त हुआ; केवल दर्शन-दर्शन हुए, सो भी थोड़े-से अंशके ही।

यह बड़ी विलक्षण बात है कि ये व्रजलीलाएँ एक-से-एक बढ़कर हैं। इनके विषयमें यह कहा ही नहीं जा सकता कि अमुक सबसे परेकी लीला है; क्योंकि सबसे परेकी लीला तो कोई तब कही जाय जब कि कोई सीमा हो।

जब लीला अनन्त है, भगवान्‌की सर्वथा स्वरूपभूता है, तब वह नयी-ही-नयी होती जायगी, एक-से-एक विलक्षण आती जायगी; जितना ऊँचा अधिकारी होगा, उसके सामने उतने ही ऊँचे स्तरकी लीला आयेगी। शास्त्रमें आजतक जिन-जिन लीलाओंका वर्णन हुआ है, वह तो बहुत ही थोड़ा है। बहुत-सी ऐसी लीलाएँ हैं कि जिनका वर्णन होना ही असम्भव है। तथा ऐसी भी बहुत-सी लीलाएँ हैं, जिन्हें आजतक किसी-ने नहीं देखा है। वैसा कोई ऊँचा भक्त हो जाय तो वह बिल्कुल नयी और सबसे ऊँचे स्तरकी लीला भी देख सकता है। हाँ, एक बात अवश्य है कि जिसको जिस लीलाका दर्शन होता है, उसको यह प्रतीत नहीं होती कि 'हमें अब कुछ देखना बाकी रह गया है।' जैसे समुद्रमें डूब जानेपर ऊपर-नीचे, बाहर-भीतर जल-ही-जल दीखता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय लीला-सिन्धुमें डूब जानेपर वह स्वयं लीलामें तन्मय हो जाता है, अब उसे यह ज्ञान थोड़े रहता है कि अभी कुछ बाकी है। पर जैसे समुद्रमें विचित्र-विचित्र इतनी बड़ी तरङ्गें उठती हैं कि जिनकी कोई तुलना नहीं; किसी वर्षमें ऐसी तरङ्गें आती हैं कि वैसी हजारों वर्षके इतिहासमें नहीं मिलतीं। वैसे ही लीलासिन्धुमें भी ऐसी-ऐसी तरङ्गें आती हैं कि उनके प्रकट होनेपर पहली फीकी हो जाती हैं; फिर दूसरी लीलाओंके प्रकट होनेपर पहली फीकी हो जाती हैं; तीसरी लीलाओंके प्रकट होनेपर दूसरी फीकी पड़ जाती है और चौथी प्रकट हुई कि तीसरी फीकी पड़ जाती है। तरङ्गोंकी कोई सीमा नहीं कि कब कैसी तरङ्ग आकर पहलेवालीको फीकी—छोटी बना दे। वैसे ही भगवान्‌की लीलाका कोई हिसाब नहीं कि न जाने कब कोई ऐसी विलक्षण लीला भगवान् प्रकट करेंगे कि पहलेवाली सब-की-सब फीकी हो जायँगी। पर फीकी-का यह अर्थ नहीं है कि पिछली लीलासे मन उपराम हो जाय। भगवान्‌की प्रत्येक लीला ही अनन्त असीम सौन्दर्यसे भरी है। यहाँ तो तुलनात्मक दृष्टिसे यह बात कही गयी है।

इसीलिये साधना इसी बातकी करनी पड़ती है कि चाहे जैसे हो, एक बार लीला-समुद्रमें जाकर डूब तो जायँ। फिर तो तरङ्गें आयेंगी ही। उद्धव भगवान्‌के सखा थे, उन्हें सख्यरसका आनन्द प्राप्त था। पर भगवान् तो कृपालु हैं। उन्होंने देखा—विचारा केवल सूखा ज्ञानका आनन्द एवं मेरे सखापनका आनन्द ही पाता है; अब इसे व्रज भेजकर कुछ इससे भी परेका जो आनन्द है, वह दिखलाऊँ। उद्धव गये। पहले तो उन्होंने ज्ञानकी चर्चा की; पर इसके बाद जब गोपियोंकी कृपासे गोपियोंकी विरह-लीलाका दर्शन हुआ, तब उनके होश उड़ गये—हाय! मेरा जीवन तो व्यर्थ गया। उस पश्चात्तापका यह फल हुआ कि श्रीगोपियोंने और भी कृपा की तथा उन्हें उससे भी ऊँची एक लीलाका थोड़ा-सा अंश दिखलाया। इसके बाद और भी कृपा हुई होगी, हमलोगोंको उसका क्या पता।

पर इतनी बात इसीलिये हुई थी कि उद्धवको श्री-कृष्णका साक्षात् हो चुका था। फिर भगवान्‌ने कृपा करके ऊँचे-ऊँचे स्तरोंकी बात उन्हें दिखायी, सुनायी। इसी प्रकार जैसे भी हो, एक बार श्रीकृष्णका साक्षात्कार मनुष्यको कर लेना चाहिये। फिर मुहर लग जाती है। जब एक बार श्रीकृष्णका साक्षात् हो जाता है, तब उसे 'पास' मिल जाता है कि अब यह हमारी लीला देख सकता है। वह जितना अधिक समय लगायेगा, उतनी ही अधिक लीला देख सकेगा। यहाँ समय लगानेका अर्थ है—लालसा बढ़ाना तथा श्रीकृष्णकी कृपापर अपने आपको न्योछावर कर देना। वहाँ किसी राजाके सीमित महलमें देखनेकी वस्तुएँ थोड़े ही हैं। भगवान्‌की लीलावाले महलमें एक बार प्रवेश कर जानेके बाद फिर तो अनन्त कालतक देखनेपर भी वहाँकी वस्तुएँ समाप्त नहीं हो सकतीं।

७८. मान लीजिये एक बहुत बड़ा सम्राट् है। अब वह जिस समय दरबारमें रहता है, उस समय उसका रोब सबपर छाया रहता है। पर जब वह महलमें जाता है, तब बच्चा उसकी दाढ़ी पकड़कर खींचता है और रानी उसकी सेवा करती है। रानी यह जानती अवश्य है कि मेरे पति बड़े भारी सम्राट् हैं, पर वहाँ रानीके मनमें उसके सम्राट्पनका रोब नहीं रहता। वहाँ तो सम्राट् उसके प्रियतम पति हैं। सम्राट् हैं दरबारमें, महलमें तो उसके स्वामी हैं, उसपर उसका अधिकार है। राजदरबारका कानून, बैठना-उठना, बात-चीत, हँसना-बोलना, सब मर्यादासे सीमित रहता है; वहाँ सम्राट्पन (ऐश्वर्य) बात-बातमें रहेगा। पर महलमें सब नियम ही दूसरे होते हैं, वहाँ केवल घर-गृहस्थीका प्रेममय नियम होता है। भगवान्के बड़े-बड़े ऊँचे-ऊँचे भक्त कोई राजमन्त्रीकी तरह समस्त विश्वकी सँभाल रखते हैं, कोई बहुत बड़े अधिकारीकी तरह काम करते हैं, यहाँतक कि युवराज-की तरह, भगवान्के पुत्रकी तरह अधिकार रख सकते हैं; पर इतना अधिकार रखकर भी राजमहलकी निर्बाध प्रेममयी स्थितिका उनको कुछ भी पता नहीं हो सकता; वे राजरानी, पटरानीको देखतक नहीं सकते—जानतक नहीं सकते कि उनकी शकल-सूरत कैसी है।

भगवान्का द्वारकाका रूप, मथुराका रूप, अयोध्या-का रूप—ये सब ऐश्वर्यके रूप हैं। बहुत ऊँचे-ऊँचे संत उनकी इस ऐश्वर्य-लीलामें स्थान पाकर भगवान्की तरह-तरहकी सेवा करते हैं। पर वृन्दावनका जो रूप है, वह राजमहलका रूप है तथा जैसे राजमहलकी एक दासी भी राजमन्त्रीको ही नहीं, युवराजतकपर हुकुम चला देती है, वैसे ही श्रीगोपीजनोंका हुकुम ब्रह्मा-विष्णु-महेशतकपर चलता है। अवश्य ही जिस प्रकार राजमहलमें दिन-रात आनन्दित रहनेवाली राजरानियोंको, दासियोंको यह अवकाश नहीं कि राज्यमें क्या हो रहा है यह देखें, वैसे ही मधुर लीलामें जिन्हें स्थान प्राप्त हो जाता है, उनको उस अनिर्वचनीय आनन्दसे छुट्टी ही नहीं मिलती कि जाकर देखें—बाहर राज्यमें क्या कैसे हो रहा है।

जो दिन-रात श्रीकृष्णको रोबमें बैठे देखता है, उसे क्या पता कि ये ही श्रीकृष्ण महलमें जाकर न जाने क्या-क्या करते हैं। वह तो दिन-रात दरबारी कानूनकी मर्यादामें रहता है। मर्यादाकी जो लीला होती है, उसीमें उसका मन पगा हुआ होता है।

जैसे साँझ हुई कि महलकी रानियाँ अटारीपर चढ़-कर, राज्यमें क्या हो रहा है—यह देखना चाहें तो देख सकती हैं, पर राज्यवाला कोई भी उनको देख नहीं सकता। वैसे ही जो मधुर लीलाके भक्त हैं, वे कभी इस प्रापञ्चिक जगत्की लीला तथा ऐश्वर्यमयी लीलाको देखना चाहें तो देख सकते हैं। पर जो दिन-रात मिश्रीके रसको चख रहा है, उसका गुड़पर मन थोड़े ही चलता है। वह तो ऐसे विलक्षण आनन्दमें छका रहता है कि क्या पूछना। उसको ऐश्वर्यकी बात सुनने-कहनेकी भी फुरसत नहीं होती।

यद्यपि इसके लिये लोकमें कोई दृष्टान्त नहीं, फिर भी समझनेके लिये समझें कि जैसे राजाकी रानीकी स्पेशल गाड़ी कहीं जाय तो राज्यके मन्त्री आदि बड़े-बड़े अफसर सब प्रबन्ध करते हैं। सारा प्रबन्ध उन्हींका रहता है तथा उनके प्रबन्धमें ही स्पेशल जाती है। पर राजमन्त्री यह जानता है कि मेरा प्रबन्ध रहनेसे क्या हुआ, ये हैं तो राजमहलकी पटरानी। मेरा अधिकार तो ये इसलिये मानती हैं कि मेरा आदर बढ़े। पर वस्तुतः मैं तो इनका चाकर हूँ। ठीक उसी प्रकार यदि मधुर लीलामें स्थान पाया हुआ कोई भक्त या उसका अवतार हो, तो उसकी देख-रेख ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं बड़े-बड़े देवता ही करते हैं, पर यह समझते हुए कि ये तो हमारे प्रभुके प्रेमी हैं।

जो वैसे भक्त हैं या अवतार लिये हुए हैं, वे सब कानून 'मानते हैं; पर उनका यहाँका कानून मानना

वैसे ही है, जैसे राजरानी सैर करने निकले और मन्त्रीके प्रबन्धमें उसे रहना पड़े। मन्त्रीने जहाँ जैसे रहनेकी, खानेकी व्यवस्था की है, उसी व्यवस्थाका राजरानी पालन करती है। पर यह सब करते हुए भी जैसे वह अपनेको इनके शासनसे सर्वथा परे समझती है, वैसे ही ऐसे जो कोई विरले भाग्यवान् संत होते हैं अथवा अवतार लिये होते हैं, वे यहाँ इस संसारके कानूनका ठीक-ठीक पालन तो करते हैं, पर वस्तुतः वे अपनेको इस राज्यके शासकोंकी शासनव्यवस्थासे परे अनुभव करते हैं।

कल्पना कीजिये—सम्राट्को मजाक सूझे और इसकी इच्छासे कोई महलकी रानी वेष बदलकर राज्यमें घूमे। अब कोई राजका चपरासी हो। उस बेचारेको तो पता है नहीं कि यह महलकी रानी है, वेष बदले हुए है। अब सम्राट्का रानीके लिये संकेत है कि 'तुमको वेष बदलकर जब दरबारमें हम रहें, तब आना होगा।' अब जब वह रानी जायगी, तब चपरासी तो उसके साथ भी वही व्यवहार करेगा, जो वह सबके साथ करता है। ठीक उसी तरह पहले आदेश लायेगा, तब दरबारमें प्रवेश करने देगा। वहाँ दरबारमें भी केवल सम्राट्को ही पता है कि यह तो हमारी रानी है, वेष बदले हुए यहाँ आयी है; और लोग तो जानते भी नहीं कि यह कौन है। रानी वहाँ दरबारमें खूब ठाटसे, ढंगसे बात करती है; पर मन-ही-मन वह भी हँसती है तथा सम्राट् भी उसपर हुकुम तो चलाते हैं पर मन-ही-मन खूब हँसते हैं। इसी प्रकार भगवान् भी कभी-कभी लीला किया करते हैं।

एक बहुत सुन्दर लीला आती है—भगवान् द्वारका-में गद्दीपर बैठे हैं तथा कुछ ग्वालिनें दहीके मटके लिये दरबारमें आती हैं। भगवान् तो सब जानते हैं—पहले अदबसे बात होती है। फिर गोपियाँ कहती हैं कि 'चलो वृन्दावनमें, यहाँ गद्दीसे उतरो।' सारा दरबार ठक् हो जाता है कि भला, ये गँवारी ग्वालिनें कितनी बढ़-बढ़कर बातें कर रही हैं। श्रीकृष्ण थोड़ा और भी रंग जमाते हैं। गोपियाँ कहती हैं कि 'हम राधारानीकी दासियाँ हैं; यदि सीधे मनसे नहीं चलोगे तो फिर दस्तावेज निकालना पड़ेगा!' (श्रीकृष्णने एक दस्तावेज लिख दिया था कि मैं आजीवन राधारानीका गुलाम रहूँगा।) श्रीकृष्ण खूब हुज्जत करते हैं कि हमें याद नहीं कि हमने कहाँ क्या दस्तावेज लिखा है। फिर गोपियाँ दस्तावेज निकालकर श्रीकृष्णकी सही दिखलाती हैं और गद्दीसे उतार देती हैं। सारा दरबार चकित रह जाता है। श्रीकृष्ण पीछे-पीछे चल पड़ते हैं। अब सोचिये, वृन्दावनके महलकी दासी उनकी इच्छासे ही दरबारमें आती है तथा तरह-तरहकी लीला करती है; पर लीला देखकर यह अनुमान भी नहीं हो सकता कि ये ही राजराजेश्वर श्रीकृष्ण वृन्दावनकी गोपियोंके दास हैं। ये अप्रकट लीलाएँ प्रेमी भक्त संतोंके नेत्र-गोचर होती हैं, ग्रन्थोंमें पूरी नहीं पायी जातीं।

और ये लीलाएँ कुछ इतनी ऊँची हैं कि मन जब-तक बिल्कुल पवित्र नहीं हो जाता, तबतक इनके रहस्यका अनुमान लगाना भी बड़ा ही कठिन होता है। किसी भी दृष्टान्तसे इसके वास्तविक रहस्यको समझा नहीं सकता।

७९. भगवान्की लीलाएँ अनन्त हैं। उनमें किसीमें भी मन लग जानेपर तो महीने-के-महीने बीत जाते हैं, एक ही ध्यान बँधा रह जाता है। पता ही नहीं लगता कि क्या हो रहा है। समाधि हो जाती है। परंतु जबतक ऐसी अवस्था नहीं हो जाती, तबतक चञ्चल मनको वशमें करनेके लिये दस-बारह लीलाएँ चुन लेनी चाहिये तथा खूब कड़ाईसे समय बाँध लेना चाहिये कि इतने समयसे लेकर इतने समयतक यह लीला, फिर यह लीला, फिर यह। इस प्रकार जागनेसे सोने-

तक मन-ही-मन चिन्तनका तार चलता रहे । बाहर तो सुन रहे हैं, पोथी पढ़ रहे हैं, किसीसे बात कर रहे हैं अथवा बैठकर नामजप कर रहे हैं, पर भीतरका काम भी चलते ही रहना चाहिये। खूब चेष्टा करनेसे भगवान्‌की कृपा होनेपर ऐसा बड़ी आसानीसे हो सकता है ।

८०. वैष्णवसिद्धान्तका तो यह एक निचोड़ है कि भक्त भगवान्‌से अपना एक सम्बन्ध जोड़ ले । भगवान् हमारे स्वामी हैं, मैं उनका दास हूँ । भगवान् हमारे सखा हैं, मैं उनका मित्र हूँ । भगवान् हमारे पुत्र हैं, मैं उनका पिता हूँ । भगवान् हमारे पति हैं, मैं उनकी पत्नी हूँ । भगवान् हमारे प्रेमास्पद प्राणनाथ हैं, मैं उनकी प्रेयसी हूँ । कहनेका अभिप्राय यह है कि जो सम्बन्ध प्यारा लगे, मनको खींचे—बस, उसीको एक बार दृढ़ करके जोड़ ले और फिर ठीक उसी भावके अनुसार चौबीसों घंटे सेवामें लगा रहे । भगवान् तो सर्वज्ञ हैं, जिस क्षण कोई उनसे सम्बन्ध जोड़ता है, ठीक उसी क्षण वे उसके उसी सम्बन्धको स्वीकार करके उसके लिये वही बनकर आनेके लिये तैयार हो जाते हैं । विलम्ब तो होता है हमारी उत्कण्ठाकी कमीके कारण । यही उत्कण्ठा, जैसे-जैसे भजन-स्मरण बढ़ता है, वैसे-वैसे अन्तःकरण शुद्ध होनेपर बढ़ने लगती है और जिस क्षण उत्कण्ठा पूरी हुई कि उसी क्षण वही बनकर भगवान् उसके सामने प्रत्यक्ष आ जाते हैं और फिर उस दिनसे वह भगवत्प्राप्त पुरुषोंकी गणनामें आ जाता है ।

लीलाचिन्तन करते-करते बीचमें भगवान्‌की कृपासे कई विचित्र-विचित्र घटनाएँ हो जाती हैं । मान लें आप ध्यान कर रहे हैं, भोजनकी लीला चल रही है । बड़े, पकौड़ी, साग एवं तरह-तरहकी मिठाइयाँ मन-ही-मन परस रहे हैं और भावना कर रहे हैं—श्रीकृष्णके भोजन कर लेनेके बाद अब मुझे प्रसाद मिला है, उसे मैं खा रहा हूँ। अब वहाँ मनमें खानेका चिन्तन हो रहा था, पर ठीक वही मिठाई यहाँ इस मुँहमें आ जायगी । इसका अर्थ यह हुआ कि आज ध्यान नहीं हुआ, आज थोड़ी देरके लिये प्रत्यक्ष दर्शन हुआ ।

कभी-कभी ऐसा भक्तोंको हुआ है कि भावनासे खीर बना रहे हैं । वह गरम ज्यादा थी, चूल्हेसे उतारते समय हाथपर पड़ गयी। वहाँ भान हुआ कि अँगुली जल गयी और खीरका बर्तन हिलकर गिर गया । अब हो तो रहा था ध्यान, पर ठीक खीरका गरम कटोरा हाथमेंसे गिर जायगा और हँसते हुए भगवान् प्रकट हो जायँगे । ध्यानमें ही भक्त चूल्हेपर खीर बना रहा था, लकड़ी जल रही थी । खीर उतारी, कटोरेमें ढाली, कटोरेको उठाया, उठाते ही अँगुलीपर पड़ी, अँगुली हिली, हिलनेसे कटोरा गिर गया । आँख उसी समय खुल जाती है तथा देखता है कि एक कटोरेमेंसे खीर गिर गयी है और भगवान् हँसते हुए सामने खड़े हैं ।

मधुर भावके, गोपीभावके संत लोग तो विचित्र-विचित्र तरहकी लीला करते हैं । वहाँ तो बड़े-छोटेका संकोच ही नहीं । कभी चपत लगा देते हैं । श्रीकृष्ण चपत खाकर रूठ जाते हैं । अब वे गोपीभावापन्न संत उन्हें मनाते हैं । मनाते समय श्यामसुन्दर तरह-तरहकी शर्तें पेश करते हैं । यह ला दो तो मानकर फिर तुम्हारे साथ खेलूँगा । वहाँ अत्यन्त सुन्दर लीला हुई । अब उसमें कुछ श्यामसुन्दरको वह लेकर देने जा रहे हैं । वह चीज तो मानसिक थी, पर आँख खुल जाती है और वे देखते हैं कि वही चीज यहाँ इस हाथमें है ।

एक बार दो भक्त थे । वृन्दावनकी बात है । दोनों अपनेको श्यामसुन्दरकी सखी मानकर सखीका शरीर धारण करके सेवाकी भावना करते थे । सेवाकी साधनामें बहुत ऊँचे उठ गये थे । एक दिनकी बात है कि राधा-कुण्डमें जल-विहारकी लीला चल रही थी । वे उसीके ध्यानमें लगे हुए थे । लीला होते-होते श्रीप्रियाजीके

कानोंका कुण्डल जलमें गिर गया। अब संत तो वहाँ सखीके वेषमें थे। अतः उनकी सखी राधारानीका कुण्डल गिरनेसे वे घबराकर पानीमें डुबकी मारकर खोजने लगे। इधर ध्यानमें तो एक-दो मिनट ही बीता था, पर यहाँ सात दिन बीत गये। लोगोंने देखा कि आँखें बंद हैं, श्वास धीरे-धीरे चल रहा है, सात दिन एक आसनसे बैठे बीत गये हैं। उनके एक मित्र थे। उनका नाम शायद रामचन्द्रजी था। उनको लोगोंने समाचार दिया। वे स्वयं भी पहुँचे हुए थे। उन्होंने आकर देखा—देखते ही समझ गये कि यहाँ तो कुण्डलकी खोज चल रही है। बस, चटसे वे उन्हींकी बगलमें बैठ गये। ध्यानमें ही वहाँ पहुँचे तथा कुण्डल, जो एक कमलकी जड़में छिपा हुआ था, उठाकर इनके हाथोंमें दे दिया। कुण्डल पाकर इन्होंने उसे प्रियाजीके कानोंमें पहना दिया। पहनानेपर प्रियाजीने प्रसन्न होकर अपने मुँहमेंका पान उनके मुँहमें दे दिया। अब पान तो ध्यानमें दिया था। पर उसी समय आँखें खुलीं। देखते हैं कि मुँह पानसे भरा हुआ है। दोनों मित्र हँसने लग गये। और लोगोंने कुछ नहीं समझा। केवल इतना ही देखा कि सात दिन बाद पान चबाते हुए उठे। जब दो प्रेमी साथी मिलकर ऐसी सेवाकी साधना एक साथ करते हैं तथा दोनों ही जब ऊँची स्थितिमें पहुँच जाते हैं, तब एक दूसरेकी क्या अवस्था है, यह भगवान्‌की कृपासे वे जान लेते हैं। यह योगकी बात नहीं है। यह तो साधनके साम्यकी बात है तथा भगवदिच्छासे ऐसा हो जाता है।

जैसे गोपियाँ श्यामसुन्दरसे मिलनेके लिये एक साथ मिलकर कात्यायनीकी उपासना करती थीं, वैसे ही यहाँ भी कोई-कोई ऐसे मित्र होते हैं, जो मिलकर एक दूसरेसे हृदयकी बात बताते हुए साधना करते हैं। फिर उनसे एकको दूसरेकी अवस्थाका श्यामसुन्दरकी इच्छासे ही कभी-कभी पता लग जाता है; सदा ही लगे, यह आवश्यक नहीं है।

किसीकी सच्ची लगन हो तो आसानीसे सफलता मिल सकती है; क्योंकि भगवान् सर्वथा सर्वदा उपस्थित हैं। जो चाहिये, वही कर देंगे। पहले तो चिन्तनमें जहाँ मन लगा कि सब चाह ही मिट जायगी। पता ही नहीं लगेगा कि चिन्तन है या असली। चिन्तनका अभ्यास होते ही मन दिन-रात वहीं फँसा रहेगा। आपके मनमें जो चित्र आता है, उसमें भी आपकी ही कमीके कारण सब त्रुटि है; क्योंकि आप उसे ऐसा मानते हैं कि यह तो भावनाका चित्र था। सेवा हुई, नहीं हुई; चलो, कोई आ गया है तो उससे बात कर लेंगे। भगवान् देखते हैं कि यह तो हमें भावनाका चित्र मानता है, तब हम असली क्यों बनें? नहीं तो, फिर गर्मीके दिनोंमें आपको राधारानी एवं श्रीकृष्णको पंखा झलनेसे फुरसत नहीं मिले। बाहर कुछ भी करते रहेंगे, पर मनमें सिद्धदेह धारण किये हुए पंखा झलते ही रहेंगे। बाहरके काममें भले त्रुटि हो, पर पंखा झलना एक मिनट भी नहीं छूटेगा। कहीं किसी झंझटके काममें फँस गये तो इतना दुःख होगा कि बाप रे, हम तो मर गये।

जैसे × × × में गर्मीके कारण छटपटा रहे थे, ठीक उसी तरह यह मालूम होगा कि ओह! आज बहुत गर्मी है, देखो तो कितना पसीना श्यामसुन्दरको आ रहा है। और फिर यहाँ शरीरका ध्यान छूटकर मनमें ही पंखा झलना चलता रहेगा। पर यह इसीलिये नहीं होता कि न तो चित्र बाँधनेका अभ्यास सधा है और न उसमें असली श्रीकृष्णभाव है। भोजन करानेकी लीलाका चिन्तन करते हुए जैसे धीरे-धीरे चबा-चबाकर हम प्रत्येक ग्रासको खाते हैं, वैसे ही अनुभव होगा कि यह लड्डू है, इसे श्यामसुन्दरने तोड़ा, तोड़कर मुँहमें रखा, अब चबा रहे हैं। फिर मनमें आयेगा थोड़ा नमकीन,

खाते तो ठीक रहता। बस, उसी समय अनुभव होगा कि दही-बड़ेको तोड़कर मुँहमें रख रहे हैं। पर वह करनेसे होगा। आप जो भाव करेंगे, उसी लीलाको वे सखी बना देंगे। पहले तो सुन-पढ़कर दस-बारह लीलाओंका कोर्स बनाइयेगा, फिर, पीछे उनकी कृपासे नयी-नयी लीलाएँ अपने-आप ध्यानमें आने लग जायँगी। आप जिन श्रीविग्रहकी सेवा करते हैं, उनके साथ भी ऐसी घटना हो सकती है। वे सचमुच आपका भोग खा सकते हैं, सामने बैठकर खा सकते हैं। पर सारी बात इसपर निर्भर है—अटल विश्वासके साथ सच्चे मनसे चाहकर पूरी लगनसे चिन्तनमें लग जायँ। फिर कुछ भी करना नहीं पड़ेगा। मधुर-से-मधुर लीला एक-पर-एक मनमें उनकी कृपासे आयेगी और आप बस देख-देखकर निहाल होते रहियेगा। फिर एक दिन यह शरीर छूट जायगा और उसीमें सदाके लिये शामिल हो जाइयेगा। पर यह सब अनन्य लगनके साथ करनेसे होगा।

नन्ददासजी जब मरने लगे—अन्तमें यह पद गाते हुए मरे—

देखो, देखो री, नागर नट निरतत कालिंदी तट
गोपिनके मध्य, राजै मुकुट लटक।
काछिनि किंकिनि कटि
नंददास गावै तहाँ निपट निकट।

अर्थात् मैं बिलकुल नजदीक खड़ा होकर यह लीला देख रहा हूँ। यह कहते हुए प्राण छोड़ दिये। आप यदि श्रीकृष्णपर निर्भर होकर साधना करें तो नन्ददासजीकी तरह मृत्यु होना कौन बड़ी बात है?

श्रीरामदर्शन

(लेखक—पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने अपने पवित्र 'रामचरितमानस'में धनुर्यज्ञके पूर्व श्रीजनकपुरमें स्थित महाराजके परमरम्य बागमें श्रीरामदर्शनके लिये श्रीजनकनन्दिनीके जिस पावन प्रेम-प्रयासका सरस-सरल भाषामें वर्णन किया है, उसका विवरण न श्रीवाल्मीकीय, न अध्यात्मरामायणमें आया है। अवश्य वह प्रसन्न-राघव नाटकमें पाया जाता है; परंतु उसमें श्रुतिसिद्धान्तके रहस्यका विकास नहीं हुआ है, जैसा कि मानसमें हुआ है।

श्रुति कहती है कि योगके बिना विद्वान्‌का भी यज्ञ नहीं सिद्ध होता—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति।

(ऋक्संहिता मण्डल १ । १८ मन्त्र ७)

ज्ञानी जनकजीके उपदेशक योगी याज्ञवल्क्यजीका कथन है कि योगके द्वारा आत्मदर्शन करना परम धर्म है—

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्।

और श्रुति भी कहती है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। (बृहदारण्यक० ४ । ५ । ६)

सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः।

(छा० उ० ८ । ७ । १)

और योगानुशासनमें उसके लिये विधि है—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

(योग० १ । २०)

इसलिये इस प्रेम-दर्शनसे श्रीजानकीजीने आगम-निगमद्वारा ही अपना कर्त्तव्य पालन करके यज्ञकी सफलता प्राप्त की है और प्रत्येक सौभाग्य-काङ्क्षिणी कन्याके लिये आदर्श स्थापित कर दिया है, जिसका वर्णन क्रमशः आगे होगा।

गोस्वामीजीने इस श्रुति-रहस्यको सरल-सरस भाषामें लिखकर अपने विमल निबन्धको अति मञ्जुल बनाया

है और इसलिये सुजन-समाजमें समुचितरूपसे सम्मानित हुआ है। कहा भी है—

सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
(मानस)

महामुनि श्रीविश्वामित्रजीके पूजनका समय जानकर और उनकी आज्ञा पाकर लक्ष्मणजीके साथ श्रीरामजी फूल लेने गये। श्रीजनक महाराजके बागको देखकर दोनों भाई बड़े प्रसन्न हुए और मालियोंसे पूछकर पुष्प लेने लगे।

इसी समय सयानी सखियोंके साथ श्रीसीताजी वहाँ श्रीगौरीकी पूजाके लिये अपनी पूज्या माताजीकी आज्ञासे आयीं और स्नान करके उन्होंने बड़े अनुरागसे पूजा की और अपने योग्य सुन्दर वर माँगा।

एक सखी सीताजीका साथ छोड़कर फुलवाड़ी देखने गयी थी और उसने जाकर दोनों भाइयोंको देखा और प्रेममें विह्वल होकर सीताजीके पास आयी। उसकी दशा देखकर और सखियोंने उसके 'पुलक गात जलु नैन' और हर्षका कारण पूछा। उसने कहा कि 'दोनों राजकुमार बाग देखने आये हैं। सब प्रकारसे सुन्दर हैं। मैं किस प्रकार उनका वर्णन करूँ।'

गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥

यह सुनकर तथा सीताजीके हृदयमें उत्कण्ठा जानकर सब सयानी सखियाँ प्रसन्न हुईं। तब एक और सखी कहने लगी, 'ये वे ही राजकुमार हैं, जो सुना है कि कल मुनिके साथ आये हैं और जिन्होंने अपने सौन्दर्यसे सबको मोहित कर लिया है। जहाँ-तहाँ उनकी छविका लोग वर्णन कर रहे हैं—अवश्य चलकर उनको देखना चाहिये। वे देखने योग्य हैं।'

सखियाँ श्रुतिस्वरूपा हैं। उनके वचन श्रुतितुल्य हैं। 'आत्मा वा द्रष्टव्यः'का ही श्रीरामजीके दर्शनके लिये सुन्दर अनुवाद है—

अवसि देखिअहिं देखन जोगू॥

सखीके वचन सीताजीको बड़े सुहावने लगे। श्रुतिका आदर्श है 'आत्मा वा श्रोतव्यः'—इसलिये दर्शन करनेके लिये लोचन अकुला उठे। देवर्षि श्रीनारदजीकी बात भी याद आ गयी और पवित्र प्रेम उत्पन्न हो गया एवं सीताजी चकित होकर इधर-उधर देखने लगीं। मन इस बातकी चिन्ता कर रहा था कि राजकुमार कहाँ चले गये—यही श्रुतिका 'मन्तव्यः' और 'अन्वेष्टव्यः' है।

सब सखियोंने लताकी ओटमें सुन्दर श्याम और गौर राजकुमारोंको दिखलाया। उनके रूपको देखकर जनककुमारीके नेत्र ललचा उठे। वे ऐसे प्रसन्न हुए मानो उन्होंने अपना खजाना ही पहचान लिया। श्रुतिका आदेश है—'आत्मा अन्वेष्टव्य है और विजिज्ञासितव्य है।' इसलिये सीताजीके लोचनोंने अपने रामको पहचान लिया। पहचाननेके बाद श्रुति कहती है कि आत्माको जानकर अपनी बुद्धि (प्रज्ञा) तद्रूप कर लेनी चाहिये—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत।
(बृहदारण्यक ४।४।२१)

इसके अनुसार श्रीसीताजीकी दशाका वर्णन गोस्वामीजीने बड़े सुन्दर और प्रेमरससे भरे शब्दोंमें किया है—

थके नयन रघुपति छबि देखें।
पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥
अधिक सनेहँ देह भै भोरी।
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥
लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हे पलक कपाट सयानी॥
जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी।
कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥

उसी समय लता-भवनसे दोनों राजकुमार प्रकट हुए। रामजीको देखकर सब सखियाँ अपने आपको

भूल गयीं, परंतु एक चतुर सखी धीरज धरकर सीताजीका हाथ पकड़कर कहने लगी—

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू।
भूपकिसोर देखि किन लेहू॥

तब सीताजीने सकुचाकर नेत्र खोले और सम्मुख रामजीकी शोभाको देखकर और पिताजीके प्रणको याद करके मनमें क्षुब्ध हुईं।

ऊपर चतुर सखीने जो ध्यानकी बात कही है, वह गम्भीर ध्यानकी है, जिसको श्रुति 'निदिध्यासितव्य' के शब्दसे कहती है। हाथ पकड़कर सीताजीको ध्यान छोड़नेके लिये कहनेसे स्पष्ट है कि ध्यान श्रवणसे छूटनेवाला नहीं था, बल्कि हाथके झटकेसे; क्योंकि ध्यान निदिध्यासनके रूपमें परिणत हो गया था। इस तरह श्रुतिके वचन भलीभाँति इस पावन प्रेमचरितमें चरितार्थ हो गये। अर्थात्—

(१) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। (बृह० ४।५।६)

(२) सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। (छा० ८।७।१)

(२)

जब सखियोंने सीताजीको प्रेमके वशमें देखा, तब वे भयसे कहने लगीं—बड़ी देर हो गयी। एक सखी मनमें हँसकर कहने लगी, कल इसी समय फिर आयेंगी। सीताजी सखीकी रहस्यमय वाणी सुनकर सकुचा गयीं। देर हो जानेके कारण माताजीका भय लगा। बहुत धीरज धरकर वे श्रीरामजीको हृदयमें ले आयीं और अपनेको पिताके अधीन जानकर लौट चलीं। मृग, पक्षी और वृक्षोंको देखनेके बहाने सीताजी बार-बार घूम जातीं और श्रीरामजीकी छवि देख-देखकर उनकी प्रीति कम नहीं बढ़ती थी। शिवजीके धनुषको कठोर जानकर मनमें विसूरती हुई श्याममूर्तिको हृदयमें रखकर लौट गयीं। यह प्रसङ्ग भी वेदान्तदर्शनके—

आवृत्तिरसकृदुपदेशात्। (४।१।१)

—के अनुसार ही है। सीताजीका बार-बार देखना और सखीका कहना कि फिर आयेंगी—प्रत्ययकी आवृत्ति करना उचित है। श्रीशङ्कराचार्यका भाष्य भी इस विषयका समर्थक है—

तस्मात्सकृदुपदेशेष्वप्यावृत्तिसिद्धिः। असकृदुपदेशस्त्वावृत्तेःसूचकः

(शां० भा० ४।१।१)

(३)

योगदर्शनके अनुसार—(१) श्रद्धा, (२) वीर्य (उत्साह), (३) स्मृति, (४) समाधि, (५) प्रज्ञा-का होना साधकोंके लिये आवश्यक है। इसीलिये पूर्व पावन प्रेमचरितमें इन सबका विवरण निम्नलिखित चौपाइयोंमें भी मिलता है—

(१) श्रद्धा—

सुनि हरषीं सब सखीं सयानी।
सिय हियँ अति उतकंठा जानी॥

(२) वीर्य (उत्साह)—

तासु बचन अति सियहि सोहाने।
दरस लागि लोचन अकुलाने॥

(३) स्मृति—

सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।

(४) समाधि—

देखि रूप लोचन ललचाने।
हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥
थके नयन रघुपति छबि देखें।
पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥
अधिक सनेहँ देह भै भोरी।
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥

(५) प्रज्ञापूर्वक—

लोचन मग रामहि उर आनी ।
दीन्हे पलक कपाट सयानी ॥
जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी ।
कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी ॥

जिस प्रज्ञाका वर्णन ऊपर आया है, उसको योगदर्शनमें ऋतम्भरा प्रज्ञा कहते हैं। इसीके विषयमें श्रुति कहती है—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत,
(बृ० ४ । ४ । २१)

और इसीको श्रीभगवद्गीतामें—'स्थितप्रज्ञ' आदि शब्दों-द्वारा प्रतिपादित किया गया है । इस प्रज्ञाको प्राप्त करनेसे सत्य वस्तुका ज्ञान होता है—संशय और भ्रम नहीं रहते । श्रीसीताजीके हृदयमें इस समय संशय, अश्रद्धा और अज्ञानका आभास उपस्थित था । धनुषकी कठोरताके कारण सुन्दर श्याममूर्तिके द्वारा उसके तोड़े जानेमें संशय, पिताके प्रणके कारण नारद-वचनमें श्रद्धाकी मात्राका कम होना तथा श्रीरामजीके हृदयमें सीताजीके प्रेमका क्या परिणाम हो रहा होगा, इसका अज्ञान—इन सबको दूर करनेके निमित्त श्रीसीताजी फिर श्रीगौरीजीके मन्दिरमें पधारीं और प्रेमपूर्वक विनय करके उन्होंने भगवतीके चरण पकड़ लिये। श्रीभवानीने प्रसन्न होकर कहा कि (१) "हमारा आशीर्वाद सत्य है; सीताजी, आपकी मनःकामना पूरी होगी। (२) नारदवचनमें श्रद्धा रखना, वह सदा शुचि और सत्य होता है। (३) 'करुणानिधान सहज सुंदर साँवरा' आपके स्नेहको जानता है।"

इस आशीर्वादको सुनकर श्रीसीताजीकी प्रज्ञा ऋतम्भरा हो गयी अर्थात् विशेष अर्थवाली हो गयी—संशय और भ्रम सब दूर हो गया, श्रीरामजीके हृदयकी बात उन्हें ज्ञात हो गयी। क्योंकि श्रीभवानीजीकी स्तुतिमें सीताजीने कहा था—'बसहु सदा उर पुर सबही के', इसलिये पार्वतीजीने श्रीरामजीके हृदयके भावको प्रकट करा दिया और साथ ही नारदजीके वचनकी सत्यता कहकर श्रीसीताजीके हृदयमें 'उपजी प्रीति पुनीत'को निश्चल तथा अनुमोदित कर दिया । अब श्रीसीताजीको अत्यन्त हर्ष हुआ और उनके वाम अङ्ग फड़कने लगे । बार-बार पूजन करके वे अपने मन्दिरको चली गयीं । ऋतम्भरा प्रज्ञा सब दूसरे संस्कारोंका बाध करनेवाली होती है (तज्जः संस्कारोऽन्य-संस्कारप्रतिबन्धी); इसलिये अब कोई भी संदेह नहीं रहा । श्रुतिका वचन कि 'उस परमात्माको जानकर प्रज्ञाको तदनुकूल करना चाहिये' पूर्णरूपसे चरितार्थ हो गया । जिस सुखका अनुभव सीताजीको हुआ, उसका वर्णन श्रीगीता इस तरह करती है—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥
(६ । २०-२१)

यह बुद्धिग्राह्य सुख ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा ही प्राप्त होता है और योग-सेवासे श्रद्धा-वीर्यादिकी प्राप्तिका वर्णन ऊपर हो चुका है तथा तत्त्वमें स्थित करनेके लिये श्रीगौरीजीके आशीर्वादका कथन भी आ चुका है ।

(४)

शिक्षा

भगवान्‌का अवतार धर्म-स्थापनके लिये होता है, इसलिये उनकी आदिशक्तिका अवतार, जो उनकी आत्म-माया है, अपने पावन चरित्रसे धर्मरक्षाकी शिक्षा देता है ।

(१) श्रीसीताजी श्रुति तथा योगके आदेशका पालन करके यह बतलाती हैं कि शास्त्रविधिके प्रमाणको मानकर प्रत्येक कर्म करना उचित है । परमार्थ-साधनके लिये निगमागम-अनुमोदित पद्धतिका अनुसरण सबके लिये कल्याणकारक है ।

श्रीगीता भी यही कहती है—

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(१६ । २४)

(२) व्यवहारमें अपनेको सर्वश्रेयस्करी सीताजीने पिता और माताके अधीन रहकर यह आदर्श स्थापित किया है कि प्रत्येक कुमारीकन्याके प्रेमकी मयादा 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव' के आदर्शसे शोभाको प्राप्त होकर श्रेयस्कारिणी होती है; इसीलिये श्रीसीताजीके इन वाक्योंपर ध्यान रखकर उनके चरित्रका यथाशक्ति अनुकरण करना उचित है—

(१)

नख सिख देखि राम कै सोभा ।
सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा ॥

(२)

धरि बड़ि धीर रामु उर आने ।
फिरी अपनपउ पितु बस जाने ॥

(३)

गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी ।
भयउ बिलंबु मातु भय मानी ॥

यद्यपि देवर्षि नारदके वचनोंका स्मरण करके श्रीसीताजीके हृदयमें पुनीत प्रेम उत्पन्न हुआ, तथापि माता और पिताकी बातको सर्वोपरि समझकर अपने प्रेमको मर्यादाके अधीन रखकर उन्होंने अपने चारुचरित्रसे कुलको पवित्र कर दिया है ।

परमोपयोगी पावन प्रेमका प्रसङ्ग लिखनेसे निगमागमसम्मत मानसकार श्रीगोस्वामीजीको अन्त:सुखकी प्राप्ति हुई और उन्हीं पूज्यपादकी कृपासे जो श्रद्धा और प्रेमपूर्वक रामचरितमानसका अनुशीलन करेंगे, अवश्य ही उनके हृदयमें शान्ति और सुखकी उपलब्धि होगी । इस सुभग कविता-सरिताकी छवि तो सीताजीके स्वयंवरकी सुन्दर कथा ही है ।

सीय स्वयंबर कथा सुहाई ।
सरित सुहावनि सो छबि छाई ॥
(मानस)

श्यामका आठों याम मनमें निवास

नैन-मन जब तैं आइ बसे ।
तब तैं आठौं जाम दिवस निसि निमिषौ नाहिं खसे ॥
सबके नैन प्रपंचहि निरखत सबके मन संसार ।
इहाँ जगत आवन पावत नहिं, निरतत नंदकुमार ॥
ललित त्रिभंग पीत पट सोभित, गल गुंजनकी माल ।
मुकुट मयूर पिच्छ, कुंचित कच, मृगमद तिलक सुभाल ॥
कर मुरली, कटि किंकिनि राजत पग नूपुर झनकार ।
नीलस्याम वदनारविन्द पर काम कोटि सत वार ॥
अधर मधुर मुसक्यान मनोहर, तिरछी चितवनि जाल ।
मुनि-मन विहग अगम्य निरखि छवि आइ फँसत ततकाल ॥
नित्य प्रकासित स्याम-सूर्य, तहँ जग तम जात डराय ।
दुस्साहस करि जाय कबहुँ जौ, बिनु मारे मरि जाय ॥

श्रीकृष्णका प्राकट्य

(श्रीकृष्णजन्माष्टमी-महोत्सवपर श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दारका भाषण)

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥
यन्नखेन्दुरुचिर्ब्रह्म ध्येयं ब्रह्मादिभिः सुरैः ।
गुणत्रयमतीतं तं वन्दे वृन्दावनेश्वरम् ॥
अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥

'भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंकी स्मृति सदा बनी रहती है तो उसके प्रभावसे समस्त पापों तथा अशुभोंका नाश, कल्याणकी प्राप्ति, अन्तःकरणकी शुद्धि, परमात्माकी भक्ति और वैराग्ययुक्त ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति अपने-आप हो जाती है ।' आज उन्हीं भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्य-महोत्सवका मङ्गलमय दिवस है, इस महान् मङ्गलमय अवसरपर आप, हम सब भगवान् श्रीकृष्णका पवित्र स्मरण करके जीवनको पवित्र और मङ्गलमय बनायें ।

अवतार तथा अवतारके कारण और स्वरूप

अवतारका अर्थ है—अवतरण, परब्रह्मका उतरना । भगवान् सर्वातीत हैं, सर्वमय हैं, सर्वव्यापक हैं, सदा-सर्वत्र विराजित हैं; पर उन्होंने अपनी 'सर्वभवन-सामर्थ्य'से—मायासे —योगमायासे अपनेको ढँक रक्खा है । अपनी इच्छासे ही लीलाके लिये कभी-कभी वे इस आवरणको किसी अंशमें हटाकर लोकके सामने प्रकट हो जाते हैं, यही उनका अवतरण है । इसीका नाम अवतार है । यह अवतार स्वयं अक्षर ब्रह्म, भगवान् विष्णुका भी होता है और किसी शुद्ध सत्त्वको आधार बनाकर भी होता है । भगवान्के इस अवतारको श्रीशङ्कराचार्य-सरीखे अद्वैतवादी महापुरुषोंने भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है । जो लोग यह कहते हैं कि 'कोई मनुष्य अपनी उन्नति करते-करते जब महान् गुणोंसे सम्पन्न होकर उच्च स्तरपर पहुँच जाता है, तब उसीको भगवान्का अवतार कहते हैं,'—यह ठीक नहीं है । यह तो 'आरोहण' है—चढ़ना है, अवतरण—उतरना नहीं । भगवान् तो अवतरित होते हैं ।

ये अवतार अनेक प्रकारके होते हैं—लीलावतार, पुरुषावतार, अंशावतार, कलावतार, गुणावतार, युगावतार, आवेशावतार, विभवावतार और अर्चावतार आदि । सभी अवतारोंमें लीलाके लिये अवतरण होता है, अतः सभीको अवतार कहा जाता है और इन अवतारोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है । जब सबका भगवान्से प्रादुर्भाव है, तब सभी पूर्ण हैं । शास्त्र कहते हैं—

सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः ।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥
परमानन्दसंदोहा ज्ञानमात्राश्च सर्वतः ।
सर्वे सर्वैर्गुणैः पूर्णाः सर्वदोषविवर्जिताः ॥

'ये सभी नित्य हैं, शाश्वत हैं; इनके हानोपादानरहित अप्राकृत देह हैं, प्रकृतिसे उत्पन्न नहीं हैं । ये जन्म-मृत्यु आदि सर्वदोषरहित, सर्वगुणसम्पन्न, पूर्ण और ज्ञानस्वरूप, परमानन्दसंदोह हैं ।' इनमें देश, काल या शक्तिके कारण किसी प्रकारका तारतम्य नहीं है । शक्तिके प्रकाशकी न्यूनाधिकतासे ही इनमें तारतम्य माना जाता है । एक बलवान् पुरुषमें पाँच मन बोझ उठानेकी शक्ति है; पर जहाँ एक छटाँक वजन ही उठाना है, वहाँ एक छटाँक वजन उठानेपर यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें पाँच मन उठानेकी शक्ति नहीं है । शक्ति तो पूरी है, पर वहाँ शक्तिके प्रकाशका प्रयोजन नहीं है । इसी प्रकार पूर्ण शक्तिमान् भगवान्के अवतारमें प्रयोजनानुसार किसीमें कम शक्तिका प्रदर्शन है, किसीमें अधिकका । इस शक्तिके प्राकट्य और अप्राकट्यके तारतम्यको लेकर ही पूर्णत्व और अंशत्वका कथन है । इसीसे कहा गया है—

प्रकाशिताखिलगुणः स्मृतः पूर्णतमो बुधैः ।
असर्वव्यञ्जकः पूर्णतरः पूर्णोऽल्पदर्शकः ॥

''भगवान् जब अपने अशेष गुणोंको प्रकट करते हैं, तब वे 'पूर्णतम' हैं; जब सब गुणोंको प्रकट न करके बहुत-से गुणोंको प्रकट करते हैं, तब 'पूर्णतर' हैं और जब उनसे भी कम गुणोंको प्रकट करते हैं, तब 'पूर्ण' कहलाते हैं ।'' श्रीलघुभागवतामृतमें कहा है—

अंशत्वं नाम शक्तीनां सदाल्पांशप्रकाशिता ।
पूर्णत्वं च स्वेच्छयैव नानाशक्तिप्रकाशिता ॥

"अनन्तशक्तिशाली भगवान् जब अल्पशक्तियोंको प्रकट करते हैं, तब वह अवतार 'अंश' कहलाता है और जिसमें अपनी इच्छासे बहुत-सी शक्तियोंको प्रकट कर देते हैं, वह 'पूर्ण' कहा जाता है।"

शक्ति क्या है ? इस विषयमें कहा है—

शक्तिरैश्वर्यमाधुर्यकृपातेजोमुखा गुणाः।
शक्तेर्व्यक्तिस्तथाव्यक्तिस्तारतम्यस्य कारणम्॥

'ऐश्वर्य, माधुर्य, कृपा और तेज आदि गुण ही शक्ति कहलाते हैं। इन शक्तियोंका प्राकट्य और अप्राकट्य ही तारतम्यका कारण है।' नहीं तो भगवान्के सभी अवतार पूर्ण हैं।

जहाँ जैसा लीलाक्षेत्र होता है, वहाँ उसीके अनुसार शक्तिका प्रकाश होता है—शक्ति समान होनेपर भी वहाँ प्राकट्यके भेदसे फलमें भी भेद दिखायी देता है। जैसे—

शक्तिः समापि पुर्यादिदाहे दीपाग्निपुञ्जयोः।
शीताद्यार्तिघ्नं येनाग्निपुञ्जादेव सुखं भवेत्॥

'नगरको जलानेके लिये एक दीपकमें जो शक्ति है, अग्निपुञ्जमें भी वही शक्ति है। (इस दृष्टिसे) दोनों ही समान हैं, पर अग्निपुञ्जकी एक विशेषता है—शीतादि कष्टको दूर करना हो तो वह दीपककी ज्योतिसे नहीं होता; शीतनाशका सुख तो अग्निपुञ्जसे ही मिल सकता है।'

इसी प्रकार अवतारोंकी अंश-कलादिरूपमें अभिव्यक्ति होती है।

परब्रह्म भगवान्के ही रूपान्तर भूमापुरुष अन्तर्यामी भगवान् शुद्ध सत्त्वको आधार बनाकर असुरसंहार, साधु-संरक्षण तथा धर्मस्थापनादिरूप लीलाके लिये अपने इच्छानुसार देश आदिके आवरणको हटाकर ज्ञान या क्रियारूप अंशसे लोकमें प्रकट होते हैं, तब उन्हें 'अंशावतार' कहा जाता है। पर कभी-कभी अनन्त कल्याणगुणगणपरिपूर्ण स्वयं भगवान् परात्पर ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम किसी सत्त्वादिको आधार न बनाकर अपने नित्य अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्दस्वरूपसे—जो दिव्य शरीर-इन्द्रिय-अन्तःकरणादिरूपसे अप्रकट है—असुरोद्धार, साधुपरित्राण, धर्मस्थापनादि प्रयोजनसहित प्रधानतया साधननिरपेक्ष अपने सम्बन्ध या दर्शनमात्रसे ही सबका उद्धार करनेके लिये अपने माधुर्य और ऐश्वर्ययुक्त स्वरूपसे अंशांशसहित अपनेको इच्छित लोकमें प्रकट करते हैं, तब उसे 'पूर्णावतार' कहते हैं। यह अवतार कहलानेपर भी वस्तुतः 'स्वयं भगवान्का पूर्ण आविर्भाव' होता है। ऐसा पूर्ण आविर्भाव बहुत कम हुआ करता है। यही परात्पर ब्रह्मका पूर्णाविर्भावपूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं। श्रीकृष्णावतार बहुत कल्पोंमें होता है, परंतु स्वयं भगवान्का पूर्णाविर्भाव सारस्वत कल्पमें होता है। इस परिपूर्णाविर्भावमें समस्त अंश-कलाओंका भी समावेश रहता है, जैसे स्वाभाविक ही करोड़ रुपयोंमें सौ, दो सौ, हजार दो हजारका रहता है। इसीसे श्रीकृष्णको 'नारायण ऋषिके अवतार, अंशावतार, भगवान् श्रीनारायणके कृष्णकेशावतार, क्षीरोदशायी, सहस्रशीर्षा, वैकुण्ठाधिपति महानारायण, श्वेतद्वीपपति विष्णु भी कहते हैं और इसीसे इस साधननिरपेक्ष उद्धार करनेवाले आविर्भावमें भी असुरोद्धार, साधुपरित्राण और धर्मसंस्थापन आदि अंशकलावतारोंके कार्य भी सुसम्पन्न होते देखे जाते हैं। परंतु वास्तवमें श्रीकृष्ण साक्षात् परात्पर पूर्ण ब्रह्म, पूर्ण पुरुषोत्तम, सर्वव्यापक, सर्वकर्ता, सर्वमय, सर्वातीत, अप्रमेय, दिव्यानन्दस्वरूप, प्राकृतिक गुण-रहित, स्वरूपभूत दिव्यकल्याणगुणगणवारिधि, आनन्दाकार, सर्वशक्तिविशिष्ट, अंशकलापूर्ण 'स्वयं भगवान्' हैं। अन्य अवतार 'अंश-कला' हैं—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

'भगवान्' शब्दका अर्थ

अष्टाङ्गयोगी लोग इन्हीं भगवान्को 'परमात्मा', उपनिषद्-निष्ठ वेदान्ती 'ब्रह्म' और ज्ञानयोगी 'ज्ञान' कहते हैं—

भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः।
ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥

(स्कन्दपुराण)

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(१।२।११)

श्रीकृष्ण ही ये स्वयं भगवान् हैं, श्रीकृष्ण ही परमात्मा हैं और श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। 'भगवत्' शब्दकी निरुक्ति है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥

'अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त यश, अनन्त श्री

अनन्त ज्ञान और अनन्त वैराग्य—ये छः भग जिसमें स्वरूपभूत रूपसे नित्य वर्तमान हैं, वे भगवान् हैं।'

'ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज—इनका नाम भग है। ये सब अनन्तरूपसे जिसमें वर्तमान हैं, वे भगवान् हैं।'

ये सभी गुण भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य निरन्तर स्वरूपतः वर्तमान हैं।

'न्यायविवरण'में भगवान् वासुदेवकी पूर्णताके सम्बन्धमें कहा गया है—

पूर्णानन्दः पूर्णभुक् पूर्णकर्ता पूर्णज्ञानः पूर्णभाः पूर्णशक्तिः।
पूर्णैश्वर्याद् भगवान् वासुदेवो विरुद्धशक्तिर्न च दोषस्पृगीशः॥

षडैश्वर्यपूर्ण भगवान्में पूर्ण आनन्द, पूर्ण भोक्तृत्व, पूर्ण कर्तृत्व, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण ज्योति, पूर्ण शक्ति, पूर्ण ऐश्वर्य, विरुद्ध-शक्तित्व और अदोषस्पर्शित्व विद्यमान हैं।

भगवान्में विरुद्ध धर्मोंका आश्रय

भगवान् विरुद्धधर्माश्रय हैं; जो विरुद्धधर्माश्रय नहीं होता, वह पूर्ण नहीं होता। इसीसे श्रुतियोंने ब्रह्ममें विरुद्ध-धर्मोंका समाश्रय बतलाया है—

अणोरणीयान् महतो महीयान्। (कठ० १।२।२०)

'वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है और महान्से भी महान् है।'

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
(कठ० १।२।२१)

'बैठा हुआ ही दूर चला जाता है, सोता हुआ ही सर्वत्र चला जाता है।'

तदेजति तन्नैजति, तद् दूरे तद्वन्तिके।
(ईश० ५)

'वह चलता है, वह नहीं चलता; वह दूर है, वह पास भी है।'

तुरीयमतुरीयमात्मानमनात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखम्।

(नृसिंहोत्तरतापनी, षष्ठ खण्ड)

'जो तुरीय भी है, अतुरीय भी है, आत्मा भी है और अनात्मा भी है, उग्र भी है और अनुग्र (शान्त) भी है, वीर भी है, अवीर भी है, महान् भी है, अमहान् (लघु) भी है, विष्णु (व्यापक) भी है, अविष्णु (एकदेशीय) भी है, प्रकाशमान भी है, अप्रकाशमान भी है, सर्वतोमुख (सब ओर मुखवाला) भी है, असर्वतोमुख (एक ओर मुखवाला) भी है।

पुराणोंमें कहा है—

अस्थूलोऽनणुरूपोऽसावविश्वो विश्व एव च।
विरुद्धधर्मरूपोऽसावैश्वर्यात् पुरुषोत्तमः॥
(ब्रह्मपुराण)

यों नित्य युगपत् विरुद्ध-धर्माश्रय परब्रह्मका लक्षण है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने श्रीमुखसे—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

—अजन्मा, अविनाशिस्वरूप और समस्त प्राणियोंके ईश्वर होते हुए ही जन्म ग्रहण करनेकी बात कहकर अपने विरुद्ध-धर्माश्रय होनेका वर्णन किया है। 'मुझ अव्यक्तमूर्तिसे यह सारा जगत् परिपूर्ण है। ये समस्त भूत मुझमें हैं, मैं इनमें नहीं हूँ। ये भूत मुझमें नहीं हैं, मेरे योगैश्वर्यको तुम देखो।' गीतोक्त यह कथन भी 'विरुद्धधर्माश्रयत्व'का ही वर्णन है।

भगवान् श्रीकृष्ण महान् भोगी होकर भी परम योगी, विभक्त होकर भी सदा अविभक्त, सर्वकर्ता होकर भी सदा अकर्ता, दृश्य होकर भी अदृश्य, परिच्छिन्न होकर भी विभु, जन्म लेनेवाला होकर भी अजन्मा, सापेक्ष होकर भी सदा निरपेक्ष, (प्रेमीके सामने) महामुग्ध होकर भी परम चतुर, (प्रेमके राज्यमें) सकाम होकर भी नित्य पूर्णकाम, (प्रेम-राज्यमें) दीन होकर भी नित्य अदीन, भक्त-प्रेमवश पराधीन होकर भी परम स्वतन्त्र, बन्धनयुक्त भी नित्यमुक्त, प्रमेय होकर भी अप्रमेय, भक्तगम्य होकर भी परम अगम्य, ममता-युक्त होकर भी नित्य निर्मम, अनेक होकर भी सदा एक, अत्यन्त बुभुक्षित होकर भी नित्यतृप्त और सर्वसम्बन्धयुक्त होनेपर भी सर्वसम्बन्धविरहित हैं। ये बातें उनके लीला-चरितमें सुस्पष्ट हैं।

श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघनविग्रह स्वयं भगवान्

यहाँ यह बात भी जान लेनी चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्णका शरीर और उनका आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं हैं। वे सर्वतोरूपेण सच्चिदानन्दरसमय हैं। उनके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अङ्ग, अवयव—सभी अप्राकृत, भगवत्स्वरूप हैं। उनका वह

"अनन्तशक्तिशाली भगवान् जब अल्पशक्तियोंको प्रकट करते हैं, तब वह अवतार 'अंश' कहलाता है और जिसमें अपनी इच्छासे बहुत-सी शक्तियोंको प्रकट कर देते हैं, वह 'पूर्ण' कहा जाता है।"

शक्ति क्या है ? इस विषयमें कहा है—

शक्तिरैश्वर्यमाधुर्यकृपातेजोमुखा गुणाः।
शक्तेर्व्यक्तिस्तथाव्यक्तिस्तारतम्यस्य कारणम्॥

'ऐश्वर्य, माधुर्य, कृपा और तेज आदि गुण ही शक्ति कहलाते हैं। इन शक्तियोंका प्राकट्य और अप्राकट्य ही तारतम्यका कारण है।' नहीं तो भगवान्के सभी अवतार पूर्ण हैं।

जहाँ जैसा लीलाक्षेत्र होता है, वहाँ उसीके अनुसार शक्तिका प्रकाश होता है—शक्ति समान होनेपर भी वहाँ प्राकट्यके भेदसे फलमें भी भेद दिखायी देता है। जैसे—

शक्तिः समापि पुर्यादिदाहे दीपाग्निपुञ्जयोः।
शीताद्यार्तिघ्नं येनाग्निपुञ्जादेव सुखं भवेत्॥

'नगरको जलानेके लिये एक दीपकमें जो शक्ति है, अग्निपुञ्जमें भी वही शक्ति है। (इस दृष्टिसे) दोनों ही समान हैं; पर अग्निपुञ्जकी एक विशेषता है—शीतादि कष्टको दूर करना हो तो वह दीपककी ज्योतिसे नहीं होता; शीतनाशका सुख तो अग्निपुञ्जसे ही मिल सकता है।'

इसी प्रकार अवतारोंकी अंश-कलादिरूपमें अभिव्यक्ति होती है।

परब्रह्म भगवान्के ही रूपान्तर भूमापुरुष अन्तर्यामी भगवान् शुद्ध सत्त्वको आधार बनाकर असुरसंहार, साधु-संरक्षण तथा धर्मस्थापनादिरूप लीलाके लिये अपने इच्छानुसार देश आदिके आवरणको हटाकर ज्ञान या क्रियारूप अंशसे लोकमें प्रकट होते हैं, तब उन्हें 'अंशावतार' कहा जाता है। पर कभी-कभी अनन्त कल्याणगुणगणपरिपूर्ण स्वयं भगवान् परात्पर ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम किसी सत्त्वादिको आधार न बनाकर अपने नित्य अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्दस्वरूपसे—जो दिव्य शरीर-इन्द्रिय-अन्तःकरणादिरूपसे अप्रकट है—असुरोद्धार, साधुपरित्राण, धर्मस्थापनादि प्रयोजनसहित प्रधानतया साधननिरपेक्ष अपने सम्बन्ध या दर्शनमात्रसे ही सबका उद्धार करनेके लिये अपने माधुर्य और ऐश्वर्ययुक्त स्वरूपसे अंशांशसहित अपनेको इच्छित लोकमें प्रकट करते हैं, तब उसे 'पूर्णावतार' कहते हैं। यह अवतार कहलानेपर भी वस्तुतः 'स्वयं भगवान्का पूर्ण आविर्भाव' होता है। ऐसा पूर्ण आविर्भाव बहुत कम हुआ करता है। यही परात्पर ब्रह्मका पूर्णाविर्भावपूर्णतम पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं। श्रीकृष्णावतार बहुत कल्पोंमें होता है, परंतु स्वयं भगवान्का पूर्णाविर्भाव सारस्वत कल्पमें होता है। इस परिपूर्णाविर्भावमें समस्त अंश-कलाओंका भी समावेश रहता है, जैसे स्वाभाविक ही करोड़ रुपयोंमें सौ, दो सौ, हजार दो हजारका रहता है। इसीसे श्रीकृष्णको 'नारायण ऋषिके अवतार, अंशावतार, भगवान् श्रीनारायणके कृष्णकेशावतार, क्षीरोदशायी, सहस्रशीर्षा, वैकुण्ठाधिपति महानारायण, श्वेतद्वीपपति विष्णु भी कहते हैं और इसीसे इस साधननिरपेक्ष उद्धार करनेवाले आविर्भावमें भी असुरोद्धार, साधुपरित्राण और धर्मसंस्थापन आदि अंशकलावतारोंके कार्य भी सुसम्पन्न होते देखे जाते हैं। परंतु वास्तवमें श्रीकृष्ण साक्षात् परात्पर पूर्ण ब्रह्म, पूर्ण पुरुषोत्तम, सर्वव्यापक, सर्वकर्ता, सर्वमय, सर्वातीत, अप्रमेय, दिव्यानन्दस्वरूप, प्राकृतिक गुण-रहित, स्वरूपभूत दिव्यकल्याणगुणगणवारिधि, आनन्दाकार, सर्वशक्तिविशिष्ट, अंशकलापूर्ण 'स्वयं भगवान्' हैं। अन्य अवतार 'अंश-कला' हैं—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

'भगवान्' शब्दका अर्थ

अष्टाङ्गयोगी लोग इन्हीं भगवान्को 'परमात्मा', उपनिषद्-निष्ठ वेदान्ती 'ब्रह्म' और ज्ञानयोगी 'ज्ञान' कहते हैं—

भगवान् परमात्मेति प्रोच्यतेऽष्टाङ्गयोगिभिः।
ब्रह्मेत्युपनिषन्निष्ठैर्ज्ञानं च ज्ञानयोगिभिः॥
(स्कन्दपुराण)

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥
(१।२।११)

श्रीकृष्ण ही ये स्वयं भगवान् हैं, श्रीकृष्ण ही परमात्मा हैं और श्रीकृष्ण ही ब्रह्म हैं। 'भगवत्' शब्दकी निरुक्ति है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥
ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥

"अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त यश, अनन्त श्री

अनन्त ज्ञान और अनन्त वैराग्य—ये छः भग जिसमें स्वरूपभूत रूपसे नित्य वर्तमान हैं, वे भगवान् हैं।'

'ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज—इनका नाम भग है। ये सब अनन्तरूपसे जिसमें वर्तमान हैं, वे भगवान् हैं।'

ये सभी गुण भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य निरन्तर स्वरूपतः वर्तमान हैं।

'न्यायविवरण'में भगवान् वासुदेवकी पूर्णताके सम्बन्धमें कहा गया है—

पूर्णानन्दः पूर्णभुक् पूर्णकर्ता पूर्णज्ञानः पूर्णभाः पूर्णशक्तिः।
पूर्णैश्वर्याद् भगवान् वासुदेवो विरुद्धशक्तिर्न च दोषस्पृगीशः॥

षडैश्वर्यपूर्ण भगवान्में पूर्ण आनन्द, पूर्ण भोक्तृत्व, पूर्ण कर्तृत्व, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण ज्योति, पूर्ण शक्ति, पूर्ण ऐश्वर्य, विरुद्ध-शक्तित्व और अदोषस्पर्शित्व विद्यमान हैं।

भगवान्में विरुद्ध धर्मोंका आश्रय

भगवान् विरुद्धधर्माश्रय हैं; जो विरुद्धधर्माश्रय नहीं होता, वह पूर्ण नहीं होता। इसीसे श्रुतियोंने ब्रह्ममें विरुद्ध-धर्मोंका समाश्रय बतलाया है—

अणोरणीयान् महतो महीयान्। (कठ० १।२।२०)

'वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है और महान्से भी महान् है।'

आसीनो दूरे व्रजति शयानो याति सर्वतः।
(कठ० १।२।२१)

'बैठा हुआ ही दूर चला जाता है, सोता हुआ ही सर्वत्र चला जाता है।'

तदेजति तन्नैजति, तद् दूरे तद्वन्तिके।
(ईश० ५)

'वह चलता है, वह नहीं चलता; वह दूर है, वह पास भी है।'

तुरीयमतुरीयमात्मानमनात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखम्।

(नृसिंहोत्तरतापनी, षष्ठ खण्ड)

'जो तुरीय भी है, अतुरीय भी है, आत्मा भी है और अनात्मा भी है, उग्र भी है और अनुग्र (शान्त) भी है, वीर भी है, अवीर भी है, महान् भी है, अमहान् (लघु) भी है, विष्णु (व्यापक) भी है, अविष्णु (एकदेशीय) भी है, प्रकाशमान भी है, अप्रकाशमान भी है, सर्वतोमुख (सब ओर मुखवाला) भी है, असर्वतोमुख (एक ओर मुखवाला) भी है।

पुराणोंमें कहा है—

अस्थूलोऽनणुरूपोऽसावविश्वो विश्व एव च।
विरुद्धधर्मरूपोऽसावैश्वर्यात् पुरुषोत्तमः॥
(ब्रह्मपुराण)

यों नित्य युगपत् विरुद्ध-धर्माश्रय परब्रह्मका लक्षण है। भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं अपने श्रीमुखसे—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

—अजन्मा, अविनाशिस्वरूप और समस्त प्राणियोंके ईश्वर होते हुए ही जन्म ग्रहण करनेकी बात कहकर अपने विरुद्ध-धर्माश्रय होनेका वर्णन किया है। 'मुझ अव्यक्तमूर्तिसे यह सारा जगत् परिपूर्ण है। ये समस्त भूत मुझमें हैं, मैं इनमें नहीं हूँ। ये भूत मुझमें नहीं हैं, मेरे योगैश्वर्यको तुम देखो।' गीतोक्त यह कथन भी 'विरुद्धधर्माश्रयत्व'का ही वर्णन है।

भगवान् श्रीकृष्ण महान् भोगी होकर भी परम योगी, विभक्त होकर भी सदा अविभक्त, सर्वकर्ता होकर भी सदा अकर्ता, दृश्य होकर भी अदृश्य, परिच्छिन्न होकर भी विभु, जन्म लेनेवाला होकर भी अजन्मा, सापेक्ष होकर भी सदा निरपेक्ष, (प्रेमीके सामने) महामुग्ध होकर भी परम चतुर, (प्रेमके राज्यमें) सकाम होकर भी नित्य पूर्णकाम, (प्रेम-राज्यमें) दीन होकर भी नित्य अदीन, भक्त-प्रेमवश पराधीन होकर भी परम स्वतन्त्र, बन्धनयुक्त भी नित्यमुक्त, प्रमेय होकर भी अप्रमेय, भक्तगम्य होकर भी परम अगम्य, ममता-युक्त होकर भी नित्य निर्मम, अनेक होकर भी सदा एक, अत्यन्त बुभुक्षित होकर भी नित्यतृप्त और सर्वसम्बन्धयुक्त होनेपर भी सर्वसम्बन्धविरहित हैं। ये बातें उनके लीला-चरितमें सुस्पष्ट हैं।

श्रीकृष्ण सच्चिदानन्दघनविग्रह स्वयं भगवान्

यहाँ यह बात भी जान लेनी चाहिये कि भगवान् श्रीकृष्णका शरीर और उनका आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं हैं। वे सर्वतोरूपेण सच्चिदानन्दरसमय हैं। उनके मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अङ्ग, अवयव—सभी अप्राकृत, भगवत्स्वरूप हैं। उनका वह

स्वरूपभूत भगवद्देह नित्य-अवितर्क्य-ऐश्वर्यसम्पन्न चिन्मय है और परिच्छिन्न होकर भी विभु है। वे कर्मवश पाञ्चभौतिक देह नहीं धारण करते, स्वेच्छासे अपने नित्य सच्चिदानन्दवपु-को प्रकट करते हैं—

स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि।

पद्मपुराण, पातालखण्डमें भगवान् श्रीकृष्णने अपने ही दूसरे लीलास्वरूप भगवान् श्रीरुद्रको दर्शन देकर अपने निराकार, निर्गुण, व्यापक निष्क्रिय ब्रह्मरूपकी व्याख्या करते हुए कहा है "रुद्र! तुम इस समय मेरे जिस अलौकिक अप्राकृतिक दिव्य रूपको देख रहे हो, यह निर्मल प्रेमका पुञ्ज है, सच्चिदानन्दमय है। मेरा यह रूप पाञ्चभौतिक आकारवाला नहीं है तथा दिव्य चक्षुओंसे ही यथार्थ देखा जाता है। इसलिये वेद इसे 'निराकार' कहते हैं। प्राकृतिक सत्त्व-रज-तम मेरे गुण नहीं हैं, वे अप्राकृत—स्वरूपभूत हैं तथा उन दिव्य गुणोंका अन्त नहीं है, इससे मुझे 'निर्गुण' कहा गया है। मैं अपने चैतन्य अव्यक्तरूपसे सर्वत्र व्यापक हूँ, इससे मुझ-को 'व्यापक' ब्रह्म कहा जाता है। मैं इस प्रपञ्चका कर्ता नहीं हूँ, मेरे अंश ही मायामय गुणोंके द्वारा सृष्टि आदि कार्य करते हैं; इसलिये शास्त्र मुझको 'निष्क्रिय' कहते हैं।"

अतएव श्रीकृष्णका श्रीविग्रह नित्य सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णस्वरूप ही है। महाभारतमें श्रीकृष्णका परब्रह्म होना स्थान-स्थानपर सिद्ध है—उनकी लीलासे भी और उनके सम्बन्धमें कहे हुए महापुरुषोंके वचनोंसे भी।

सच्ची बात तो यह है कि महाभारतके महानायक ही हैं—सच्चिदानन्दघन अखिलप्रेमामृतसिन्धु सर्वात्मा परात्पर ब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण। समस्त महाभारत आद्यन्तमध्यमें भगवान् श्रीकृष्णके गुण, माहात्म्यसे ही परिपूर्ण है। भगवान् व्यासदेव, मार्कण्डेयमुनि, नारद, अङ्गिरा, भृगु, सनत्कुमार, असित, देवल, परशुराम, भगवान् ब्रह्मा, पितामह भीष्म आदिके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाका महाभारतमें स्थान-स्थान-पर विशद वर्णन है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपना महत्त्व बतलाया है। यहाँ भीष्मपितामहके दो-चार वाक्य उद्धृत किये जाते हैं—

तस्माद् ब्रवीमि ते राजन्नेष वै शाश्वतोऽव्ययः।
सर्वलोकमयो नित्यः शास्ता धात्रीधरो ध्रुवः॥
यो धारयति लोकांस्त्रींश्चराचरगुरुः प्रभुः।
योद्धा जयश्च जेता च सर्वप्रकृतिरीश्वरः॥
राजन् सर्वमयो ह्येष तमोरागविवर्जितः।
यतः कृष्णस्ततो धर्मो यतो धर्मस्ततो जयः॥
वासुदेवो महद् भूतं सर्वदैवतदैवतम्।
न परं पुण्डरीकाक्षाद् दृश्यते भरतर्षभ॥
सर्वभूतानि भूतात्मा महात्मा पुरुषोत्तमः॥
केशवः परमं तेजः सर्वलोकपितामहः।
एनमाहुर्हृषीकेशं मुनयो वै नराधिप॥
ये च कृष्णं प्रपद्यन्ते ते न मुह्यन्ति मानवाः।
भये महति मग्नांश्च पाति नित्यं जनार्दनः॥

(भीष्मपर्व अ० ६६। ६७)

'राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण सर्वलोकमय, सनातन, अविनाशी, नित्यशासक, धरणीधर और अचल हैं। इन चराचर-गुरु भगवान् श्रीहरिने तीनों लोकोंको धारण कर रक्खा है। ये ही विजयी हैं, ये ही विजय हैं, ये ही योद्धा हैं और सबके परमकारण परमेश्वर भी ये ही हैं। राजन्! ये श्रीहरि सर्वस्वरूप तथा तम और रजसे विवर्जित हैं। ये श्रीकृष्ण जहाँ हैं, वहीं धर्म है और जहाँ धर्म है, वहीं विजय है। भरतश्रेष्ठ! वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण वास्तवमें महान् हैं, ये समस्त देवताओंके परम देवता हैं। कमलनयन श्रीकृष्णसे बढ़कर या इनके अतिरिक्त दूसरा कोई दिखायी ही नहीं देता। ये भगवान् ही सर्वभूतमय हैं, ये ही सबके आत्मा हैं, ये ही महात्मा हैं और पुरुषोत्तम हैं। नरनाथ! ये भगवान् केशव सम्पूर्ण लोकोंके पितामह हैं। ये परम तेज हैं। मुनिजन इनको हृषीकेश कहते हैं। जो मानव भगवान् श्रीकृष्णकी शरण लेते हैं, वे कभी मोहमें नहीं पड़ते। भगवान् जनार्दन महान् भयमें निमग्न उन मनुष्योंकी सदा रक्षा करते हैं।'

महाभारतका गहराईसे अध्ययन-मनन करनेवाले पुरुष यह भलीभाँति जानते हैं कि महाभारतके मुख्य प्रतिपाद्य भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। महाभारतके आदिपर्वमें ही कहा गया है—

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च॥
शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनः।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः॥
असच्च सदसच्चैव यस्माद् विश्वं प्रवर्तते।

यत्तद् यतिवरा मुक्ता ध्यानयोगबलान्विताः।
प्रतिबिम्बमिवादर्शे पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्॥

इस महाभारतमें सनातन भगवान् वासुदेवकी महिमा ही गायी गयी है। वे ही सत्य हैं, वे ही ऋत हैं, वे ही पावन और पवित्र हैं। वे ही शाश्वत परब्रह्म हैं, नित्य अविचल ज्योतिःस्वरूप सनातन पुरुष हैं। मनीषी विद्वान् उन्हींकी दिव्य लीलाओंका वर्णन करते हैं। यह सत् और असत्रूप सारा विश्व उन्हींसे उत्पन्न हुआ है। ध्यानयोगके बलसे समन्वित जीवन्मुक्त संन्यासीगण दर्पणमें प्रतिबिम्बकी भाँति अपने अन्तःकरणमें इन्हीं परमात्माका साक्षात्कार करते हैं।

भगवत्पादाचार्य श्रीमदानन्दतीर्थ महोदयने 'श्रीमहाभारत-तात्पर्यनिर्णय' नामक ग्रन्थमें इस बातको उदाहरण देकर भलीभाँति सिद्ध कर दिया है।

महाभारतान्तर्गत विश्वविख्यात सर्वलोकसमादृत श्रीभगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(७।७)

'धनंजय! मेरे अतिरिक्त कोई भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रकी मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।'

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
(गीता १५।१८)

''मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम हूँ। इससे लोक-वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ।''

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥
(१०।३९)

'अर्जुन! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका बीज है, सो मैं ही हूँ। चराचरमें कोई ऐसा भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो।'

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
(९।१८)

'मैं ही गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, सबका आधार, निधान तथा अविनाशी कारण हूँ।'

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

'मैं अविनाशी ब्रह्मकी, अमृतकी, नित्यधर्मकी और ऐकान्तिक सुखकी प्रतिष्ठा हूँ—सबका आधार हूँ।'

'मत्तः सर्वं प्रवर्तते।'

'सब मुझसे ही प्रवर्तित हैं।'

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
'मैं सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलय हूँ।'

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
(५।२९)

'मैं समस्त यज्ञ-तपोंका भोक्ता और सर्वलोकोंका महान् ईश्वर हूँ।'

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।
(१०।४२)

'यह सारा जगत् मेरे एक अंशमें स्थित है।'

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
'जो मुझे सर्वत्र देखता है, जो सबको मुझमें देखता है।'

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
'मैं ही समस्त यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु हूँ।'

अर्जुनने गीतामें कहा है—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥

'भगवन्! आप परमब्रह्म, परमधाम, परमपवित्र, सनातन-पुरुष, दिव्यपुरुष, आदिदेव, अजन्मा और विभु हैं।'

श्रीमद्भागवतमें तो श्रीकृष्णके परब्रह्मत्व उनकी स्वयं भगवत्स्वरूपता तथा उनके अनन्त महत्त्वका ही वर्णन श्रीव्यासदेवजीने किया है। उसकी तो रचना ही उन्हींकी स्वरूपव्याख्या तथा लीलाकथाके वर्णनके लिये हुई है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ''जब भगवान् श्रीकृष्ण 'पूर्ण परात्पर ब्रह्म', 'ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा', सर्वथा सच्चिदानन्द-मयस्वरूप हैं, तब उनका स्वरूप और आकार प्राकृत तथा उनके कार्य—स्नान, भोजन-शयनादि तथा अन्यान्य व्यवहार-बर्ताव प्राकृत मनुष्यके-से क्यों दिखायी पड़ते हैं?'' इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो भगवान् स्वयं 'सर्व-भवन-समर्थ' हैं,—वे

चाहे जैसे बन सकते हैं और यहाँ तो वे मनुष्य-लीला ही करते हैं। दूसरे, उन्होंने स्वयं इस प्रश्नका उत्तर गीतामें दे दिया है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

'मैं समस्त लोगोंकी दृष्टिमें प्रकाशित नहीं होता। इसलिये मूढ़ लोग मेरे इस अजन्मा और अविनाशी स्वरूपको नहीं जान पाते—मुझको जन्म-मृत्युशील प्राकृत देहधारी मानते हैं।'

'मैं सम्पूर्ण भूतोंका महान् ईश्वर हूँ, मेरे इस परमभाव (उत्कृष्ट माहात्म्य) को वे मूढ़लोग नहीं जानते और मुझे मनुष्यके सदृश शरीर धारण किये देखकर मुझे प्राकृत-शरीरधारी मनुष्य मान लेते हैं और मेरा अपमान करते हैं।'

श्रीयामुन मुनिने कहा है—

तद्ब्रह्मकृष्णयोरैक्यात् ....।

उस ब्रह्म और श्रीकृष्णमें एकत्व है जैसे किरणोंमें और सूर्यमें होता है।

अतएव दिव्य सच्चिदानन्दघन प्रेमानन्द-रसविग्रह भगवान् श्रीकृष्ण विरुद्धधर्माश्रयी साक्षात् पूर्णब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु हैं।

गीतामें तीन प्रकारके अवतारोंका संकेत और भगवान् श्रीकृष्णका महत्त्व

उन्होंने गीतामें अवतारके प्रसङ्गमें अपने इस पूर्णाविर्भाव तथा अपने अंशावतारोंका वर्णन सांकेतिक भाषामें सूत्ररूपसे बहुत सुन्दर किया है। वे कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

इन श्लोकोंका साधारण शब्दार्थ है—

'मैं अजन्मा, अव्ययात्मा और सर्वभूतोंका ईश्वर रहता हुआ ही अपनी प्रकृतिको (अपने स्वभावको) स्वीकार करके अपनी मायासे (योगमायाको साथ लेकर) उत्पन्न—उत्तम रीतिसे प्रकट होता हूँ (सम्भवामि)॥ ६॥

'जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं अपने रूपको रचता हूँ॥ ७॥

'साधु पुरुषोंके परित्राण, दुष्टोंके विनाश और धर्म-संस्थापनके लिये मैं युग-युगमें उत्तम रीतिसे प्रकट होता हूँ (सम्भवामि)'॥ ८॥

साधुका परित्राण, दुष्टोंका दमन और धर्मका संरक्षण-संस्थापन—भगवदवतारके ये तीन कार्य सुप्रसिद्ध हैं। इन तीनोंका वर्णन तथा इनके लिये प्रकट होनेकी बात आठवें श्लोकमें आ जाती है। फिर छठे और सातवें श्लोकमें—'सम्भवामि' और 'आत्मानं सृजामि' कहनेकी क्या आवश्यकता थी। तीनोंमें ही प्रकारान्तरसे अपने प्रकट होनेकी बात ही कही गयी है—छठे तथा आठवें तथा दोमें 'सम्भवामि' सातवेंमें 'आत्मानं सृजामि' कहा है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है—तीन श्लोकोंमें तीन प्रकारके अवतारोंका संकेत है। मैं अज, अव्ययात्मा और सर्वभूतमहेश्वर होकर भी अपनी प्रकृतिको स्वीकार करके आत्ममायासे प्रकट होता हूँ, इसमें अपने 'विरुद्धधर्माश्रयी' परब्रह्म स्वरूपके पूर्णाविर्भाव-का संकेत है। दूसरेमें सदुपदेशके द्वारा धर्मग्लानि तथा अधर्मके अभ्युत्थानका नाश करनेवाले 'आचार्यावतार'का संकेत है तथा तीसरेमें साधुसंरक्षण, दुष्टदलन और धर्म-संरक्षण-संस्थापन करनेवाले 'अंशावतार' का संकेत है।

श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं—यह गीताके उपर्युक्त श्लोकमें आये हुए 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय' और 'आत्ममायया सम्भवामि' पदोंके गाम्भीर्यपर ध्यान देकर समझनेसे और भी सुस्पष्ट हो जाता है। इसके पश्चात् ही भगवान् श्रीकृष्ण अपने इस स्वरूप तथा इसकी लीलाओंके जानने-समझनेका फल बतलाते हुए कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

'अर्जुन! मेरे इस दिव्य जन्म और कर्मको जो मनुष्य तत्त्वसे—यथार्थरूपसे जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको नहीं प्राप्त होता, (वह जन्म-मरणसे छूटकर) मुझको ही प्राप्त होता है।'

जिस जन्म और जिन कर्मोंको जाननेसे जाननेवालेका जन्म होना बंद हो जाय, वे जन्म-कर्म कैसे विलक्षण हैं और वे केवल भगवान्‌के ही हो सकते हैं—यह सहज ही समझमें आ सकता है।

आज इन्हीं ज्ञानविज्ञानस्वरूप, पूर्ण परात्पर ब्रह्म, पूर्ण पुरुषोत्तम, सर्वातीत, सर्वमय, षडैश्वर्यपरिपूर्ण, अचिन्त्यानन्तैश्वर्यशक्तिस्वरूप, महान् योगेश्वरेश्वर, प्रकृति-स्वामी, अचिन्त्यानन्त, कल्याणगुणगणाकर, पञ्चाशत्-ईश्वरीयगुणसम्पन्न, सकलगुणमय, नित्य निर्गुण, स्वरूप-भूतदिव्यगुणसम्पन्न, सदास्वरूपसम्प्राप्त, सर्वज्ञ, नित्यनूतन, सच्चिदानन्दसान्द्राङ्ग, सर्वसिद्धिनिषेवित, आदर्श कर्मयोगी, धर्मसंस्थापक, दुष्ट-दलन, असुरोद्धारक, हतारिगतिदायक, गीतोपदेशक, अनन्तसौन्दर्यमाधुर्यस्वरूप, प्रेमानन्दरसमय, शान्त-दास्य-सख्य-वात्सल्य-मधुररसनिषेवित, श्रीराधानायक, श्रीराधात्मस्वरूप, श्रीराधापादाब्जमधुकर, श्रीराधाप्राणेश्वर, श्रीराधाराधित, श्रीगोपीजनमनमोहन, श्रीगोपीकान्त, श्रीगोपी-जनजीवनधन, मुरलीमनोहर, शिखिपिच्छधारी, श्रीमथुरानायक, श्रीरुक्मिणी-रमण, श्रीद्वारकाधीश, दिव्यनायक, दिव्यसखा, दिव्यबालक, आदर्श गुरु, आदर्श शिष्य, आदर्श पुत्र, आदर्श प्रेमी, सकलकलानिपुण, नृत्यगीतवाद्यविशारद, ललितकला-कुशल, अश्वचालनकलाचतुर, भक्तप्रिय, भक्तभक्तिमान्, भक्तभयहारी, भक्तसर्वस्व, भक्तचरणरजोऽभिलाषी, भक्त-प्रतिज्ञारक्षक, भक्ताधीनस्वभाव, भक्तऋणयुक्त, शरणागत-वत्सल, दीनबन्धु, पतितपावन, देवकी-वसुदेव-कुमार, नन्द-यशोदा-नन्दन, व्रज-बालक, व्रजबालसखा, सुदामार्जुन-सखा, पाण्डवदूत, कृष्णासखा, परमवदान्य, परम-शूर, परमराजनीतिज्ञ, शौर्य-वीर्य-निधि, युद्ध-कला-विशारद, शार्ङ्गधन्वा, रण-नीति-निपुण, महापुरुषप्रधान, अखिलजगद्गुरु, महान् आदर्श पुरुष, महामानव, लोकनायक, लोक-संग्रह-कारी, इन्द्रियमनोवशकारी, अद्भुतजन्मकर्मा, षोडशकलापूर्ण, सच्चिदानन्दघन विग्रह भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य-महोत्सव है। ये भगवान् नित्य हैं, इनकी लीला नित्य है। तथापि इनका प्राकट्य होता है भाद्रपदकी कृष्णाष्टमीको।

श्रीकृष्णका आविर्भाव

भाद्रपदकी अँधियारी अष्टमीकी अर्धरात्रिको कंसके कारागारमें परम अद्भुत चतुर्भुज नारायणरूपसे इनका प्राकट्य हुआ। देवकी इनके चतुर्भुजरूपकी तीव्र प्रभाको नहीं सह सकीं और बोलीं—विश्वात्मन्! अपने इस शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी अलौकिक रूपको छिपा लो।' भक्तवत्सल भगवान्ने श्रीवसुदेव-देवकीको उनके पूर्व-पूर्व जन्मोंकी याद दिलाकर बताया कि 'मैं सर्वेश्वर प्रभु ही तुम्हारा पुत्र बना हूँ' और फिर प्राकृत शिशुका-सा रूप धारण कर लिया। श्रीवसुदेवजी भगवान्की आज्ञाके अनुसार शिशुरूप भगवान्को नन्दालयमें श्रीयशोदाके पास सुलाकर बदलेमें यशोदात्मजा जगदम्बा महामायाको ले आये। भगवान् शिशुको ले जाने, वहाँ सुलाने और कन्याको लेकर कारागारमें लौट आनेकी क्रियाको भगवान्की मायासे किसीने नहीं जाना। नन्दालयमें तो कुछ भी, किसीको भी पता नहीं लगा। श्रीविष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवतमें इस लीलाका तथा इसके आगेकी समस्त लीलाओंका बहुत सुन्दर वर्णन है। उसे पढ़-सुनकर जीवनको सफल बनाना चाहिये।

हमारे पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीने बहुत सुन्दर लिखा है—

भादौं की थी असित अष्टमी निशा अँधेरी।
रस की बूँदें बरस रहीं फिर घटा घनेरी॥
मधु निद्रा में मत्त प्रचुर प्रहरी थे सोये।
दो बंदी थे जगे हुए चिन्ता में खोये॥
सहसा चंद्रोदय हुआ ध्वंस हेतु तम वंश के।
प्राची के नभ में तथा कारागृह में कंस के॥

प्रसव हुआ, पर नहीं पेट से बालक निकला।
व्यक्त व्योम में विमल विश्व का पालक निकला॥
वय किशोर, घनश्याम मनोहर आभा तन की।
मोहक छवि थी अमित इन्दु शतकोटि मदन की॥
चार भुजाओं में गदा, शङ्ख, चक्र थे पद्म था।
मन्दिर-की ले मान्यता वन्दित बंदी-सद्म था॥

पिता हुए आश्चर्य चकित, थी विस्मित माता।
अद्भुत शिशु वह मन्द-मन्द हँसता मुसुकाता॥
सुनकर अपना स्तवन मुदित हो मुख से बोला।
गूढ़ रहस्य अतीत जन्म का मानो खोला॥
'माँगा मुझ-सा पुत्र था तुमने कर आराधना।
सिद्ध हुई वह पूर्व की आज तुम्हारी साधना॥

डर न कंस का करो, मुझे गोकुल पहुँचाओ।
और यहाँ नवजात नंदतनया को लाओ॥'
यों कह लौकिक बाल सदृश होकर वह रोया।
क्लेश असह वसुदेव-देवकी का सब खोया॥
सुरसुन्दरियों के सुभग हाथ सुमन से सज उठे।
घन-गर्जन के साथ ही देव नगाड़े बज उठे॥

एक एक कर बाधाओं की कड़ियाँ टूटीं।
पैरों की बेड़ी टूटी, हथकड़ियाँ छूटीं॥

लोह अर्गला हटी, आप खुल गयीं किवाड़ें।
द्वार हुआ उन्मुक्त, सुप्त प्रहरी जो ठाढ़े॥
दोनों जननी जनक के दूर हुए बन्धन वहाँ।
क्यों न मुक्त हों, मुक्ति के आये जीवन धन वहाँ॥
कुसुम वृष्टि हो रही, सृष्टि थी रस में डूबी।
पुत्र वत्सला एक व्यथा से बैठी ऊबी॥
सुत को उर से लगा देवकी दुख से रोई।
मेरे लल्ला को मत मुझ से छीने कोई॥
धीरज दे वसुदेव प्रिय शिशु को अपनी गोद ले।
प्रस्थित गोकुल को हुए, शेष छत्र बनकर चले॥
कालिन्दी बढ़ रही, न मिलती थाह कुछ कहीं।
चञ्चल तुङ्ग तरङ्ग भयानक भँवर उठ रहीं॥
कण्ठ मग्न थे पिता, पुत्र ने पाँव बढ़ाया।
ले पद पद्म पराग नदी ने शीश चढ़ाया॥
कैसा जादू-सा हुआ, बाढ़ कहाँ को बह गयी।
वह अगाध जलराशि थी घुटनों तक ही रह गयी॥
सुप्त यशोदा गोद मोद प्रद बालक देकर।
लौट गये वसुदेव नन्द तनया को लेकर॥
मिला अमित आनन्द नन्द को चौथेपन में।
अतिशय भरा उछाह गोप गोपीजन मन में॥
बजी बधाई नंद घर, बंदी यश गाने लगे।
वसन-विभूषण-रत्न-धन द्विज-याचक पाने लगे॥

महानुभावोंकी विलक्षण मान्यता

श्रीगौड़ीय सम्प्रदायके महानुभाव तो मानते हैं कि जिस समय कारागारमें श्रीवसुदेव-देवकीके सम्मुख चतुर्भुजरूपमें भगवान् प्रकट हुए थे, उसी समय नन्दबाबाके घरपर भी यशोदानन्दन प्रकट हुए थे। श्रीमद्भागवत-दशमस्कन्धके पञ्चम अध्यायके प्रथम श्लोकमें आया है—

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताह्लादो महामनाः।

'श्रीनन्दजीके आत्मज (पुत्र) उत्पन्न होनेपर उन महामनाको परमाह्लाद हुआ।' श्रीनन्दजीके यहाँ भगवान् पुत्ररूपमें प्रकट न हुए होते तो शुकदेवजी 'आत्मज उत्पन्ने' पुत्र पैदा हुआ न कहकर 'स्वात्मजं मत्वा' 'अपना पुत्र मानकर' कहते। इन महानुभावोंका कहना है कि श्रीवसुदेव-देवकीकी भक्ति ऐश्वर्यमिश्रित वात्सल्यमयी थी और श्रीनन्द-यशोदाकी ऐश्वर्यगन्धशून्य विशुद्ध वात्सल्यमयी। इसीसे वसुदेव-देवकीके सामने भगवान् शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज अद्भुत बालकके रूपमें आविर्भूत हुए। भगवान्के इस ऐश्वर्यमय रूपको देखकर उन्होंने समझा कि श्रीभगवान् नारायण हमारे पुत्ररूपमें प्रकट हुए हैं; अतएव उन्होंने हाथ जोड़कर इनकी स्तुति की और भगवान्ने भी पूर्व-जन्मोंकी स्मृति दिलाकर अपने साक्षात् भगवान् होनेका परिचय दिया। इसमें ऐश्वर्य प्रत्यक्ष है। तदनन्तर वात्सल्य-भावका उदय होनेपर कंसके भयसे उन्होंने भगवान्से बार-बार चतुर्भुजरूपको छिपाकर द्विभुज साधारण शिशु बननेके लिये अनुरोध किया।

इससे यह सिद्ध है कि श्रीवसुदेव-देवकीका वात्सल्य-प्रेम ऐश्वर्यमिश्रित था और भगवान्का ऐश्वर्यमय चतुर्भुज रूप ही उनका आराध्य था तथा वे उसीको पुत्ररूपमें प्राप्त करना तथा देखना चाहते थे। परंतु श्रीनन्द-यशोदाका वात्सल्य-प्रेम विशुद्ध था, उसमें ऐश्वर्य-ज्ञानका तनिक भी सम्बन्ध नहीं था; इससे उनके सामने भगवान् द्विभुज प्राकृत बालकके रूपमें ही आविर्भूत हुए और उन्होंने कोई स्तुति-प्रार्थना भी नहीं की। पुत्र समझकर गोदमें उठा लिया और नवजात बालकके कल्याणार्थ जातकर्मादि करवाये।

यह प्रसिद्ध ही है कि भगवान् उसी रूपमें भक्तके सामने प्रकट होते हैं, जो रूप भक्तके मनमें होता है। श्रीमद्भागवत-में श्रीब्रह्माजीने कहा है—

यद् यद् धिया त उरुगाय विभावयन्ति
तत् तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।

'भगवन्! आपके भक्त जिस स्वरूपकी निरन्तर भावना करते हैं, आप उसी रूपमें प्रकट होकर भक्तोंकी कामना पूर्ण करते हैं।'

श्रीमद्भागवतमें जो यह स्पष्ट वर्णन नहीं आया है—इसका कारण यह बताया जाता है कि श्रीशुकदेवजी भक्तराज परीक्षित्को कथा सुना रहे थे। परीक्षित्का सम्बन्ध वसुदेव-जीसे था। अतः उन्हें विशेष आनन्द देनेके लिये शुकदेवजीने नन्दालयमें भी भगवान्के प्रकट होनेका स्पष्ट वर्णन नहीं किया; परंतु उनका प्रेमपूर्ण हृदय माना नहीं और इस श्लोकमें उनके श्रीमुखसे 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने' रूपमें रहस्य प्रकट हो ही गया। श्रीमद्भागवतमें और भी संकेत है—कंसने जब गोकुलसे लायी हुई यशोदाकी कन्याको देवकीकी कन्या समझकर उसे मारनेके लिये शिलापर पटकना चाहा, तब वह उसके हाथसे छूटकर आकाशमें चली गयी और देवीरूपसे प्रकट हुई। उस समय भागवतमें उसके लिये

'अदृश्यतानुजा विष्णोः' अर्थात् 'कंसने भगवान्‌की अनुजा (छोटी बहिन) को देखा'—यों लिखा है । पर यदि भगवान् श्रीकृष्ण केवल श्रीदेवकीके पुत्र होते तो यशोदाकी कन्याको भगवान्‌की 'अनुजा' कहना युक्तियुक्त तथा सत्य न होता । किंतु परमानन्दघनविग्रह भक्तवाञ्छाकल्पतरु श्रीभगवान् जिस समय कंस-कारागारमें वसुदेव-आत्मजरूपमें प्रकट हुए थे, ठीक उसी समय गोकुलमें नन्दात्मजके रूपमें भी प्रकट हुए थे तथा उसीके थोड़ी देर बाद योगमाया कन्याके रूपमें प्रकट हुई थीं । श्रीहरिवंशमें आया है—

> गर्भकाले त्वसम्पूर्णे अष्टमे मासि ते स्त्रियौ ।
> देवकी च यशोदा च सुषुवाते समं तदा ॥

अर्थात् 'देवकी और यशोदा गर्भकाल पूरा होनेके पहले ही आठवें महीनेमें दोनोंने एक ही साथ प्रसव किया था ।' इसपर यह कहा जा सकता है कि 'जिस समय देवकीजीके भगवान् पुत्ररूपमें प्रकट हुए, उसी समय यशोदाजीके योग-माया प्रकट हुई ।' पर ऐसा कहना बनता नहीं; क्योंकि श्रीमद्भागवत (१० । ३ । ४) में यह स्पष्ट उल्लेख है कि 'श्रीभगवान्‌से प्रेरित वसुदेवजीने पुत्रको गोदमें लेकर कारागारसे बाहर निकलनेकी इच्छा की, उस समय 'योगमाया' प्रकट हुई ।' अतएव कारागारमें भगवान्‌का और गोकुलमें योगमायाका प्राकट्य आगे-पीछे हुआ, एक ही समय नहीं हुआ था । इसपर यह कहा जा सकता है कि गोकुलमें 'भगवान् प्रकट हुए, इसमें स्पष्ट प्रमाण क्या है ? तो इसके समाधानमें 'श्रीकृष्ण-यामल' का कहना है कि नन्दपत्नी यशोदाके यमज संतान हुई थी; पहले एक पुत्र हुआ, तदनन्तर एक कन्या हुई । पुत्र साक्षात् श्रीगोविन्द थे और कन्या थी स्वयं अम्बिका (योगमाया) ।' यशोदाकी इस कन्याको ही वसुदेवजी मथुरा ले गये थे—

> नन्दपत्न्यां यशोदायां मिथुनं समपद्यत ।
> गोविन्दाख्यः पुमान् कन्या साम्बिका मथुरां गता ॥

इस स्पष्टोक्तिसे योगमायाको 'श्रीकृष्णकी अनुजा' कहा जाना भी सार्थक हो गया ।

इसपर कहा जा सकता है, 'फिर श्रीवसुदेवजी जब शिशु श्रीकृष्णको लेकर गोकुल गये, तब वहाँ उन्हें केवल शिशु बालिका ही क्यों दिखायी दी, बालक क्यों नहीं दिखायी दिया ? और बालक भी था तो फिर वह बालक कहाँ गया ? वहाँ दो बालक होने चाहिये ।' इस शङ्काका समाधान यह है कि इनके वहाँ पहुँचते ही उसी क्षण इनका बालक उस बालकमें विलीन हो गया । इन्हें पता ही नहीं लगा कि वहाँ कोई बालक और भी था । वरं महानुभावोंने यहाँतक माना है कि जिस समय कंसके कारागारमें देवकीने यह प्रबल इच्छा की कि श्रीभगवान्‌के चतुर्भुज रूपका गोपन हो जाय, उसी समय यशोदाहृदयस्थ भगवान्‌का द्विभुज बालकरूप उस चतुर्भुज रूपको छिपाकर देवकीके सामने आविर्भूत हो गया । (**यदा स्वाविर्भूतचतुर्भुजरूपाच्छादनाय श्री-देवकीच्छाजायत, तदा यशोदाहृदयस्थद्विभुजरूपस्य तद्रूपा-च्छादनपूर्वकाविर्भावस्तत्रासीदिति गम्यते—'वैष्णवतोषिणी'**) यशोदाके यहाँ प्रकट भगवान् वहाँसे तुरंत यहाँ आकर प्रकट हो गये और उनमें भगवान्‌का शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुजरूप तुरंत वैसे ही विलीन हो गया, जैसे बादलमें बिजली विलीन हो जाती है—

> वसुदेवसुतः श्रीमान् वासुदेवोऽखिलात्मनि ।
> लीनो नन्दसुते राजन् ! घने सौदामिनी यथा ॥
> (श्रीकृष्णयामल)

श्रीभागवतमें भी देवकी और यशोदा दोनोंके सामने ही प्रकट होनेका एक संकेत है—

> देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ।
> आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥
> (१० । ३ । ८)

यहाँ 'देवकी' शब्द 'देहली-दीपक' न्यायसे श्रीदेवकीजी और श्रीयशोदाजी दोनोंका ही वाचक है; क्योंकि यशोदाजीका भी दूसरा नाम 'देवकी' था । श्रीहरिवंशपुराणमें आया है—

> द्वे नाम्नी नन्दभार्याया यशोदा देवकीति च ।
> अतः सख्यमभूत्तस्या देवक्या शौरिजायया ॥

'नन्दभार्या यशोदाके यशोदा और देवकी—दो नाम थे, इसीलिये उनका नामसाम्यके कारण वसुदेव-पत्नी देवकीसे सख्यभाव था ।'

इस वाक्यसे भी यह कहा जा सकता है कि सांकेतिक भाषामें श्रीशुकदेवजीने दोनों जगह भगवान्‌के प्राकट्यकी बात कह दी ।

एक अस्पष्ट संकेत और भी है—

> यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत ।
> न तल्लिङ्गं परिश्रान्ता निद्रयापगतस्मृतिः ॥

नन्दपत्नी यशोदाको यह तो ज्ञात हुआ कि संतान हुई है; परंतु श्रम और निद्रा (भगवत्प्रेरित स्वजनमोहिनी माया) के कारण अचेत होनेसे वे यह न जान सकीं कि पुत्र है या कन्या ।

इससे भी नन्दालयमें भगवान्के प्राकट्यका संकेत है ।

महानुभावोंका कहना है कि भगवान्के दो रूप हैं—'ऐश्वर' और 'ब्राह्म' । 'ऐश्वर' मायायुक्त है और 'ब्राह्म' स्वरूप मायातीत है । अचिन्त्यानन्त-अतुलनीय-कल्याण-गुणगणसम्पन्न स्वमायाविशिष्ट 'ऐश्वर'रूपके द्वारा इस विश्वब्रह्माण्डका सृजन-पालन आदि होता है । भगवान्का शुद्ध ब्राह्मस्वरूप उत्पादन-पालनादि लीलाओंसे रहित केवल आनन्द-प्रेममय है । अतः वसुदेवजीके यहाँ जिस रूपका प्राकट्य हुआ था, वह 'ऐश्वर'रूप था और 'नन्दात्मज' रूपसे ब्राह्म-स्वरूप भगवान् अवतरित हुए थे । श्रीवसुदेव-जीके यहाँ आविर्भूत 'ऐश्वर'रूप नन्दात्मज ब्राह्मस्वरूपमें विलीन हो गया था । रास आदि मधुरतम लीलाओंमें 'ब्राह्म' स्वरूप प्रकट था और असुरादि-वध, अग्नि-पान आदि लीलाओंमें 'ऐश्वर' स्वरूप रहता था । जब भगवान्को श्रीअक्रूरजी मथुरा ले गये, तब 'ऐश्वर'स्वरूपसे भगवान् उनके साथ चले गये और भगवान्का विशुद्ध आनन्द-प्रेममय ब्राह्म-स्वरूप गोपनरूपसे गोपाङ्गनाओंके साथ व्रजमण्डलमें रह गया । यही 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति'का रहस्य है ।

यद्यपि श्रीमद्भागवतमें इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है तथा यह क्लिष्ट कल्पना-सी भी है, तथापि महानुभावोंके उपर्युक्त विवेचनके अनुसार श्रीभगवान् 'नन्दात्मज'रूपमें भी अवतीर्ण हुए हों तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । श्रीमद्भागवतमें ही वर्णन है—भगवान् श्रीकृष्ण रासमण्डलमें कोटि-कोटि गोपाङ्गनाओंमें प्रत्येक दो गोपियोंके बीच एक-एक रूपमें प्रकट हुए थे । मिथिलामें श्रुतदेव ब्राह्मण और मिथिलानरेश बहुलाश्व दोनों ही भक्तोंके घर एक ही साथ पार्षदोंसहित अलग-अलग गये थे । द्वारकामें नारदजीने सोलह हजार रानियोंमेंसे प्रत्येक रानीके महलमें भगवान् श्रीकृष्णको विभिन्न लीला करते देखा था । ऐसे सर्वशक्तिमान् सर्वभवनसमर्थ स्वयं भगवान् श्रीवसुदेव-देवकीके यहाँ कंसके कारागारमें और श्रीनन्द-यशोदाके घर गोकुलमें पृथक्-पृथक् प्रकट हो जायँ, इसमें कौन बड़ी बात है ?

जो कुछ भी हो, आज इन लीलामय पूर्ण पुरुषोत्तम स्वयं भगवान्का प्राकट्य-महोत्सव है । आजका दिन समस्त विश्वके लिये मङ्गलमय है । इन्होंने व्रजमें वात्सल्य-सख्य-मधुरभावकी अनुपम लीलाएँ कीं, असुरोंका उद्धार किया, कंसादिका उच्छेद-साधन करके समाज-कल्याण किया, कुरुक्षेत्र-के रणाङ्गणमें महान् आश्चर्यप्रद सर्वलोककल्याणकारी समस्त देशकालपात्रोपयोगी विविध अर्थमयी दिव्य भगवद्वाणीस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीताका दिव्य गान किया, राज्यों तथा राजाओं-का निर्माण किया, स्वयं सदा निरपेक्षस्वरूप स्थित रहकर विभिन्न विचित्र लीलाएँ कीं और अन्तमें अपने दिव्य देहसे ही सबके देखते-देखते परमधामको पधार गये ।

इनके स्वरूप, तत्त्व, रहस्य तथा सौन्दर्य-माधुर्य-ऐश्वर्यादि अचिन्त्यानन्त कल्याणगुणगणोंका वर्णन कोटि-कोटि जन्मोंमें ब्रह्मा, शेष, शारदा भी नहीं कर सकते—मेरा तो यह अपने मन तथा 'निज गिरा पावन करन हित' उनके गुणोंका किंचित् स्मरणमात्र है । इसमें भी उनकी कृपा ही कारण है । मेरी निस्सीम नीचता और अधमताका पार नहीं और उन सहज कृपालुकी कृपाका पार नहीं । अस्तु,

प्रणाम और प्रार्थना

हमारा यह विश्व, परमपावन भारतभूमि, द्वारकापुरी, कुरुक्षेत्रका रणाङ्गण, मथुरामण्डल, व्रजभूमि, गोकुल, नन्दालय अति धन्य हैं, जहाँ स्वयं भगवान्ने प्रकट होकर विविध प्रकारकी दिव्य और आदर्श लीलाएँ कीं । लोकपितामह ब्रह्माजीके शब्दोंमें हम भी उनके प्रति प्रणाम और प्रार्थना करें—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु-
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥

अहो ईड्य नव घन तन स्याम । तडिदिव पीत बसन अभिराम ॥
मार पिच्छ छबि छाजत भाल । नैन बिसाल सु उर बनमाल ॥
रस पुंजा गुंजा अवतंस । कँवल बिषान बेत्र बर बंस ॥
मृदु पद बृंदाबिपिन बिहार । नमो नमो ब्रजराज कुमार ॥

बोलो व्रजबाल नन्द-यशोदालालकी जय ।

समयका सदुपयोग कीजिये

(लेखक—श्रीअगरचंदजी नाहटा)

संसारमें यदि सबसे बहुमूल्य या अनमोल कोई वस्तु है तो वह समय है। धन आदि पदार्थ एक बार चले जानेके बाद फिर भी मिल सकते हैं, पर बीता हुआ समय वापिस नहीं आ सकता। इस मानव-जीवनमें हमें कितने लंबे समयका संयोग मिला है, पर हम उसका सही मूल्याङ्कन नहीं कर पाते। इसलिये बहुत-सा समय व्यर्थ ही बरबाद कर देते हैं। समय तेजीसे चला जा रहा है, थोड़ा-थोड़ा करते हमारे जीवनकी जितनी घड़ियाँ हैं, सब पूरी हो जाती हैं और अन्तमें हमें शरीर-कुटुम्ब, धन-मकान, जमीन-जायदाद आदि सभी चीजोंको छोड़कर चले जाना पड़ता है। अपनी आयुका जितना समय है, उससे एक सेकंड भी बढ़ाया नहीं जा सकता। अतः प्रायः लोगोंको अन्तिम समयमें बड़ा पश्चात्ताप होता है कि अपनी इतने वर्षोंकी लंबी आयुमें हम कुछ भी अच्छा और इच्छित काम नहीं कर पाये; थोड़ा समय और मिलता तो अवश्य ही अपने अधूरे कामोंको पूरा कर लेते तथा जिन अच्छे कामोंको हम नहीं कर पाये, उन्हें भी करके अपना भविष्य सुखमय बना लेते।' पर उस समयका ऐसा पश्चात्ताप कुछ भी कार्यकारी नहीं होता; क्योंकि आयुको थोड़ा भी बढ़ा लेना हमारे वशकी बात नहीं। इसलिये जीवनका प्रत्येक पल सत्कर्मोंमें ही लगाते रहना परमावश्यक है। न मालूम अन्तिम घड़ी कब आ पहुँचे। अञ्जलि-जलके समान आयु निरन्तर क्षीण हो रही है और मृत्युका निश्चित समय हमें ज्ञात नहीं। तब प्रमाद क्यों! वास्तवमें हम समयका सही मूल्य समझ नहीं पाते या समझते हुए भी उसकी उपेक्षा कर जाते हैं। एक-एक मिनटका कितना महत्त्व है—इसका अनुभव करनेके लिये दो-चार रात-दिनके व्यवहारके दृष्टान्त यहाँ दिये जा रहे हैं।

(१) हमें परदेश जाना है। रेलगाड़ी या हवाई जहाजके छूटनेके निश्चित समयसे पहले या उस समयतक यदि हम स्टेशनपर नहीं पहुँच पाते और एक मिनटकी भी देर हो जाती है तो हम अपने गन्तव्य स्थानपर समयपर नहीं पहुँच सकते। तब हमारे लिये अपने उस एक मिनटकी देरी या भूलका क्या परिणाम होगा, इसका भलीभाँति अनुभव होकर बड़ा ही क्षोभ तथा पश्चात्ताप होता है।

(२) एक आदमी, जो बहुत अधिक बीमार है और अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा है, उससे मिलनेके लिये हमें जाना है अथवा उसने तुरंत मिलनेके लिये हमें बुलाया है। यदि हम थोड़ी-सी ढील कर देते हैं और वह व्यक्ति चल बसता है तो हमें उस थोड़े समयकी देरका कितना दुःख होगा। जीवनभर इस भूलका शूल हमारे हृदयमें चुभता और अखरता रहेगा।

(३) बाजारमें वस्तुओंके भावोंमें बड़ी घटा-बढ़ी हो रही है और हमारे पास उन वस्तुओंका भरपूर संग्रह है; पर हम किसी कार्यवश या आलस्यवश यों ही बाजार जानेमें देरी कर देते हैं और हमारे पहुँचनेसे एक ही मिनट पहले बहुत ऊँचे दामोंमें सौदा हो जाता है, पर जब हम पहुँचते हैं तब कोई खरीदार नहीं रहता या मंदीकी रुख हो जाती है, जिससे हमें हजारों रुपयोंकी क्षति उठानी पड़ती है, तब हमें सचमुच ही एक मिनट पहले न पहुँच सकनेका यानी एक मिनटकी देरका कितना बड़ा पश्चात्ताप होगा! उस एक मिनटका मूल्य लाखों-करोड़ोंका भी हो सकता है।

(४) कलकत्ते-जैसे शहरमें किसी भीड़-भाड़वाले चौराहेपर हम खड़े हैं और हमें दूसरे रास्तेकी ओर जाना है। रास्तेमें प्रतिपल मोटरें आदि चल रही हैं। यदि हमने उस चौराहेको पार करते समय तनिक भी असावधानी की और मोटरें आदि जिस तेजीसे चल रही हैं, उसकी गतिका अनुमान लगानेमें भूल की, तो वह जरा-सी भूल हमारे लिये घातक सिद्ध होती है। मान लीजिये, एक गाड़ी वेगसे दूरसे आती हुई दिखलायी देती है, हमने सोचा कि उसके यहाँ पहुँचनेमें एक-दो मिनटकी देर है, हम रास्ता पार कर जायँ। पर वह एक मिनटमें ही वहाँ पहुँच जाती है और संयोगवश हमारे साथ टकरा जाती है। इस प्रकार एक मिनट ही नहीं, एक सेकंडमें भी कोई बड़ी घटना घट जाती है। बहुत बार रेलगाड़ियोंकी भिड़ंत एक ही सेकंडकी असावधानीसे हो जाती है और सैकड़ों नर-नारियोंका अकस्मात् विनाश हो जाता है। इसी तरह नदीमें पानी बढ़ रहा हो, हम नावमें बैठे हों, नावमें पानी आना आरम्भ हो गया हो, पर नदीका किनारा पास ही हो। यदि किसी तरह एक मिनट पहले हम सावधान होकर तटपर पहुँच जाते हैं; तब तो ठीक, पर यदि एक सेकंडकी ही देर की

और मनसूबेमें या इधर-उधर विचारमें पड़े रहे तो जीवन खतरेमें ही समझिये। नदीकी बाढ़, आग आदिके समय भी जो व्यक्ति कुछ पहले सचेत हो जाते हैं, वे अपनी जान और मालकी रक्षा कर लेते हैं; पर यदि एक मिनटकी भी असावधानी की तो सब 'स्वाहा' समझिये। वहाँ एक मिनट या सेकंडका कितना बड़ा महत्त्व तथा मूल्य है। सोचिये, इस तरह जीवनमें अनेक बार थोड़े-से समयका भी कितना बड़ा मूल्य होता है—इसका अनुभव प्रत्येक व्यक्तिको हुआ करता है; फिर भी हम उससे कोई शिक्षा ग्रहण नहीं करते। यही विचित्रता है।

हमारे विचारोंमें प्रतिक्षण अच्छे और बुरे भावोंका द्वन्द्व चलता रहता है। यदि अच्छे विचारोंके समय हम कोई कार्य कर लेते हैं तो जीवन सफल हो जाता है। पर जिस समय बुरे विचारोंका वेग चल रहा हो और उसके आवेशमें कुछ अकरणीय कार्य कर बैठे तो वह कलङ्क सारे जीवनभर नहीं धुल पाता। इसीलिये हमारे लिये एक-एक क्षणका सदुपयोग करते रहना अत्यन्त आवश्यक है।

हम अपनी आयुके महीनों, दिनों, घंटों और मिनटोंका हिसाब लगायें और उसमें हमारा कितना समय किन-किन कार्योंमें लग रहा है, इसकी तालिका बनायें तो पता लगेगा कि सत्-कार्योंके लिये हमारे पास कितना कम समय है। मनुष्यके २४ घंटेके दिन-रातमें ७-८ घंटे सोनेमें, २-३ घंटे खाने-पीनेमें, तथा ५-७ घंटे व्यापार-धंधे या नौकरी या आजीविकासम्बन्धी कार्योंमें चले जाते हैं। अब जो ५-४ घंटे बच रहते हैं, उन्हें हम यदि व्यर्थकी गप्पें लड़ानेमें, परायी निन्दा-चुगली करनेमें, ताश-चौपड़ खेलने या सिनेमा देखने आदिमें लगा देते हैं तो कहिये, इस मनुष्य-जीवनके पानेकी सफलता ही क्या हुई? अपनी आयुका समय तो कीट-पतंग, पशु-पक्षी—सभी किसी-न-किसी प्रकार पूरा करते ही हैं। यदि उसी तरह हमने भी अपना जीवन बरबाद कर दिया तो हमारे ऋषि-मुनियोंने जिस मनुष्य-जन्मकी दुर्लभता बतलायी है, उसे पाकर भी हमने क्या फल पाया! यदि हमने अपने समयका दुरुपयोग किया, दूसरोंके सताने या किसीका बुरा करनेमें या अन्य पाप-प्रवृत्तियोंमें जीवनका प्राप्त अमूल्य समय लगा दिया तो उसका कटु फल हमें अनेक जन्म-जन्मान्तरोंतक भोगना पड़ेगा!

वैसे तो हम जल्दीसे जाते हुए समयका ठीक अनुभव नहीं कर पाते और कहते हैं कि क्या करें, समय बहुत जल्दीसे चला गया, हमें तो उसका कुछ भी पता नहीं चला। पर यदि हम सेकंडकी छोटी सुईवाली घड़ीपर लक्ष्य रखते हुए एक सेकंडमें वह सुई किस तरह धीरे-धीरे आगे बढ़ती है और किस गतिसे ६० संख्यावाले पूरे चक्करपर घूमकर एक मिनट पूरा होनेकी सूचना देती है—इसपर ध्यान दें तो हमें एक-एक सेकंडमें भी कितनी देर लगती है, इसका ठीक अनुभव हो सकेगा। इसी तरह जब हम किसी व्यक्तिकी प्रतीक्षा करते हैं तो उसके न आनेतकका समय हमें बहुत लंबा प्रतीत होता है। विरहीको रात कितनी बड़ी लगती है, इसपर विचारें तो समयकी गतिका ठीक अनुमान हो जायगा।

वास्तवमें हम अपना सारा समय बेपरवाहीसे व्यर्थकी बातोंमें खो देते हैं या आवश्यकताओंको बढ़ाकर उनकी पूर्तिके लिये कोल्हूके बैलकी तरह रात-दिन चक्कर लगाते रहते हैं। इधर कहते हैं, सत्कार्योंके लिये समय नहीं है।

हमारे जीवनमें समयका कोई ठीक विभाजन नहीं है। इसलिये हम अपना काम, जितने समयमें करना चाहिये, नहीं कर पाते। जिनके हृदयमें कुछ काम करनेकी भावना है, उन्हें अपने समयका विभाजन यानी समय-क्रम निश्चित कर लेना चाहिये। इस विषयमें पाश्चात्त्य लोग बहुत ही आगे बढ़े हुए हैं। वे अपने सभी कार्य नियत समयपर करते हैं और अपने समयका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं खोते। इसलिये जिन आवश्यक कार्योंमें जितना समय देना चाहिये, उतना देते हुए भी खेल-कूद, मनोरञ्जन और सभा-समितियोंमें भाग लेने एवं भाषण आदि कार्य-क्रमोंमें सम्मिलित होनेका भी समय निकाल ही लेते हैं। इधर हमारी सबकी शिकायत यही रहती है—क्या करें समय नहीं मिलता, इसीसे इच्छा होते हुए भी काम नहीं कर पाते।' समयकी पाबंदीमें भी जितने पाश्चात्त्यलोग दृढ़ हैं, हम उतने ही ढीले हैं। साधारणतया हमारा कोई भी कार्य या प्रोग्राम ठीक समयपर प्रारम्भ नहीं हो पाता। किसी मीटिंग या भाषण आदिमें उपस्थित होनेके लिये जो समय दिया जाता है, उस समयपर बहुत ही कम लोग पहुँच पाते हैं। प्रायः लोग देरीसे आनेके अभ्यस्त हो गये हैं और कह देते हैं 'अमुक समय दिया है तो क्या, यह तो 'हिन्दुस्तानी टाईम' है, 'अंग्रेजी टाइम' थोड़े ही है, अतः आधे घंटे बाद ही कार्य आरम्भ होगा।' इस धारणासे लोग धीरे-धीरे बहुत देरसे

पहुँचते हैं । इससे नियत समयपर आनेवालोंका समय उनकी प्रतीक्षामें व्यर्थ जाता है । उधर अंग्रेजोंकी ओर देखिये—किसी भी प्रोग्रामका जो समय होता है, उससे दो-चार मिनट पहले उस प्रोग्रामस्थलपर कोई भी दिखायी नहीं देता और ठीक समयके एक-दो मिनटोंमें ही, जो आनेवाले होते हैं, सभी एक साथ आ जाते हैं और निश्चित किये हुए समयमें ही सारा कार्य पूरा कर लेते हैं । हमें पाश्चात्य लोगोंसे समयका ठीकसे उपयोग करने और नियत समयपर कार्य प्रारम्भ करनेकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये । इससे हमारे समयकी बहुत-सी बचत हो जायगी । यद्यपि आजकल कलाईपर घड़ी बाँधने और जेबमें या घरोंमें दीवालघड़ियाँ रखनेका भारतमें बहुत प्रचार हो गया है, फिर भी ठीक समयपर कार्य करनेका अभ्यास अभी नहीं हो पाया है । घड़ियाँ हमें समयकी सूचना देती रहती हैं और अलार्म (घंटीका शब्द करनेवाली) घड़ी तो सोतेको भी जगा देती है, फिर भी हम यदि उसकी आवाजको न सुनें और समयपर कार्य करनेकी आदत न डालें तो दोष किसका ? हमारे इस जीवनका समय बँधा-बँधाया है । जितने वर्ष, महीने, दिन, घंटे, मिनट, सेकंड मिले हैं, हम उनका उपयोग किस प्रकार करें—यह हमींपर निर्भर है । हम समयका सदुपयोग करें या दुरुपयोग करें, उसे व्यर्थ नष्ट करें या उसमें कोई-कोई रचनात्मक कार्य करें—यह सब हमारी भावना, अभ्यास तथा प्रवृत्तिपर ही निर्भर है । जो समय गया, वह जब वापिस आनेका नहीं और आयुका एक-एक क्षण क्षय हो रहा है; तब हम पूर्ण सचेत रहकर जीवनके प्रत्येक क्षणको सार्थक क्यों न बनायें !

ज्ञानी महात्मा तो कालके सबसे छोटे अंशको, जिसका और कोई टुकड़ा नहीं हो सकता, एक 'समय' कहते हैं । हम जो सेकंड आदि सूक्ष्म समय मानते हैं, उतने समयमें तो ज्ञानियोंकी दृष्टिमें अनन्त समय बीत जाता है और ऐसे सूक्ष्म समयमात्रको भी प्रमादमें न खोया जाय, व्यर्थ बर्बाद न किया जाय और बुरे कामोंमें न लगाया जाय—यही ज्ञानी पुरुषोंका हम सब प्रमादी मनुष्योंके लिये संदेश है । देखिये, भगवान् महावीरने अपने प्रधान और ज्ञानवान् शिष्य इन्द्रभूति गौतमको सम्बोधित करते हुए कितने सुन्दर, हृदयस्पर्शी और तथ्यपूर्ण दृष्टान्तों तथा शब्दोंद्वारा सचेत और जाग्रत् किया है । उत्तराध्ययन-सूत्रके दसवें अध्यायमें वे कहते हैं—'गौतम ! समयमात्र भी प्रमाद न कर । बीता समय लौटता नहीं तथा प्रति क्षण आयुष्य क्षीण हो रहा है, इसका ध्यान रख ! मनुष्यजन्म पाना दुर्लभ है; स्वस्थशरीर, उच्चकुल आदि अन्य साधन मिलने और भी कठिन हैं । इनको पाकर आलस्य तथा पापकार्यों आदिमें समयको बर्बाद न कर ।'

इसी आशयकी कुछ गाथाओंका भाषान्तर नीचे किया जा रहा है—

'जैसे-जैसे दिन बीत रहे हैं, तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है । तेरे केश पक रहे हैं और समस्त बल क्षीण होता जा रहा है । हे जीव ! समयभरके लिये प्रमाद न कर ।'

'जबतक इन्द्रियाँ काम दे रही हैं, शरीर स्वस्थ है, जो कुछ करना हो, कर लो ।'

अधिकांश लोग अच्छे कामोंके लिये—'क्या करें, समय नहीं मिलता,' यही शिकायत करते रहते हैं; पर समय तो उतना ही है । बात यह है कि इन्होंने अपना समय दूसरे किसी कार्यमें लगा रखा है । दिनके चौबीस घंटे तो सभीके लिये एक समान हैं । उन्हें चाहे गप्पें हाँकने-सुनने, उपन्यास पढ़नेमें लगायें चाहे सत्सङ्गमें । हम जिस कार्यको बहुत आवश्यक समझते हैं या जिस कार्यका हमें अभ्यास पड़ जाता है, उसी कार्यमें हमारा समय लग जाता है । जिन कामोंमें अभी हमारा समय लगा हुआ है यदि उन कामोंसे, जो सत्कर्म हम करना चाहते हैं, उनको अधिक महत्त्व एवं आवश्यक समझने लगें तो उन दूसरे कामोंमें समय न देकर उन कामोंमें समय देने लगें । जीवन-व्यवहारमें हम प्रतिपल देखते हैं कि जब दो काम एक साथ करनेके होते हैं, तब जिस कामको हम अधिक जरूरी या महत्त्वका समझते हैं, उसीमें हमारी प्रवृत्ति हो जाती है । दूसरे कामको समय मिला तो कर लिया, न मिला तो नहीं सही । इसी प्रकार यदि हम सत्कर्म करनेके लिये वास्तविक इच्छा रखते हैं तो दूसरी प्रवृत्तियोंको छोड़कर या उनमेंसे थोड़ा-थोड़ा समय बचाकर भी सत्-कार्य अवश्य कर सकते हैं । कुछ गहरे विचारके साथ यदि हम सोचें तो हमारा बहुत-सा समय अनावश्यक कार्योंमें ही लगा रहता है । कुछ असत् कार्योंमें भी असत्-संगति या अभ्यासके कारण लग जाता है । पहले हमें आलस्य तथा अनावश्यक कार्योंमें समयका जो अपव्यय होता है, उसको बचाना चाहिये । विचार करनेपर, बहुत-सी बातें, जिन्हें हमने

आवश्यक समझ रखा है, उतनी आवश्यक नहीं लगेंगी। दूसरी बात, हमें अपनी आवश्यकताओंको कम करते जाना है। तीसरी बात, जिन आवश्यक कार्योंमें हमारा जितना समय लगता है, उनमें उससे कम समय लगानेका प्रयत्न करना चाहिये।

उदाहरणार्थ—एक आदमी स्नान करनेमें एक घंटा लगा देता है, तो दूसरा दो-चार मिनटोंमें ही कर लेता है। हम भी यदि उन कामोंको जल्दीसे निपटानेका ध्यान रखें और बीस या पचास प्रवृत्तियोंमेंसे दो-दो चार-चार मिनट भी समय बचायें तो बहुत-से समयकी बचत अनायास हो सकती है। बुरी आदतें और बुरे कामोंको छोड़नेके लिये तो हमें पूरा तैयार हो जाना चाहिये। फिर हमारे पास समयका अभाव नहीं रहेगा और प्रभु-भजन, आत्मचिन्तन, सत्सङ्ग, स्वाध्याय, परोपकार, प्रभु, गुरु एवं माता-पिताकी सेवा, जनसेवा, धर्मप्रचार, लेखन आदि सत्-कार्योंमें हम समयका सदुपयोग करके अपने जीवनको सार्थक बना सकेंगे। हमलोग आजसे ही निश्चित कर लें कि एक-एक सेकंड किन-किन कामोंमें लग रहा है, इसकी भलीभाँति जाँच करके अनावश्यक और बुरे कामोंसे हटकर अच्छे कामोंमें ही समय लगायें।

प्रार्थनामय जीवन

(लेखक—श्रीमधुसूदनजी वाजपेयी)

[गताङ्कसे आगे]

(२)
सामूहिक प्रार्थना

प्रत्येक देश और प्रत्येक युगमें संतोंके आशीर्वादके चमत्कार देखे और सुने जाते हैं। संतोंका समस्त जीवन ही प्रार्थनामय होता है। जिसको वे आशीर्वाद देते हैं, उसकी भलाईके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं। यों तो आशीर्वाद या शुभकामना सदा ही कल्याणकारिणी होती है; परंतु जब उसके पीछे श्रद्धा और विश्वासका बल हो, तब तो वह अवश्य ही वरदान सिद्ध होती है। इस सिद्धिमें उस व्यक्तिके अपने विश्वासका भी बहुत कुछ हाथ होता है, जिसको आशीर्वाद दिया जाता है। दो व्यक्तियोंकी श्रद्धा मिलकर जब एकाकार हो जाती है; तब वह एक अजेय शक्ति बन जाती है। परस्पर पूर्ण हार्दिक सहानुभूति रखनेवाले जो व्यक्ति जिस भी वस्तुकी उत्कट कामना करेंगे, वह वस्तु उनको निःसंदेह प्राप्त होगी। वह वस्तु इस अनन्त विश्वमें जहाँ भी कहीं होगी, वहींसे उनकी ओर खिंची चली आयेगी। दो अभिन्न-हृदय मित्रोंके लिये इस विश्वमें कुछ भी अलभ्य अथवा असम्भव नहीं है। अपने लिये की गयी प्रार्थनाकी सफलतामें संदेह किया जा सकता है, परंतु दूसरोंकी भलाईके लिये की गयी प्रार्थना अवश्य सफल होती है। जब एक मित्र अपने मित्रके दुःखनिवारण या इष्ट-प्राप्तिके लिये प्रार्थना करता है, तब भगवान् उसकी प्रार्थना बहुत शीघ्र सुनते हैं। भगवान्की इच्छा यही प्रतीत होती है कि हम अपने-अपने लिये नहीं बल्कि एक-दूसरेके लिये प्रार्थना करें। भगवान् चाहते हैं कि हम अपने साथ रहनेवालों तथा अपने पड़ोसियोंकी सेवा करें।

सेवाका पथ ही वास्तवमें आनन्दका पथ है। अपने मित्रों और प्रेमियोंके लिये तथा अपरिचित अतिथिके कष्टनिवारणके लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देनेमें जो अलौकिक सुख है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता है। जिनको दयामय प्रभुकी शक्ति और करुणामें पूर्ण विश्वास है, वे ही आत्मोत्सर्गके पथका वरण करते हैं। अपने लिये कलके लिये कुछ भी बचाकर रखनेकी चिन्ता वे नहीं करते। प्रभुने जो कुछ उन्हें आज दिया है, वह सब वे सेवामें लगा देते हैं; क्योंकि उनको पूर्ण विश्वास है कि कलकी चिन्ता तो करुणासागर परमात्माको स्वयं है। अतः क्यों न आज हम सेवा और त्यागका पूरा आनन्द लूट लें। भगवान्के खजानेमें आनन्दका अभाव तो कभी होगा नहीं। वे तो आनन्दके अक्षय भंडार हैं। हमारे पास जो कुछ भी है, वह सब उनका ही दिया हुआ है। जिसने आज दिया है, क्या वह कल कहीं चला जायगा ? जो सर्वव्यापी है, वह जायगा कहाँ ? जो करुणाका सागर है, उसकी करुणामें कमी कैसे आ सकती है ? बल्कि वह तो यही चाहता है कि हम सेवाका मार्ग ग्रहण करें।

आइये, हम सेवाके सुखमय पथको अपना लें। आजसे ही अपने क्षुद्र स्वार्थ, लोभ तथा अहंकारका त्याग करें। अपने कुटुम्बियों और मित्रोंके लिये ही नहीं, अपितु अपरिचितोंके भी कष्ट-निवारणके लिये आत्मोत्सर्ग करना सीखें। अपने क्रोधके द्वारा दूसरोंको कष्ट पहुँचाना बंद करें, दूसरोंको क्षमा करना प्रारम्भ करें तथा अपनी गलतियोंके लिये दूसरोंसे क्षमा माँग लें। यह तपस्याका पथ ही सच्चे आनन्दका पथ है। धनके त्यागसे भी बड़ा मानका त्याग है। किसीने हमारा अपमान कर दिया या हमें बुरा-भला कह दिया तो उसको क्षमा करना ही मानका त्याग है। यह बहुत उच्च कोटिका त्याग है। धनका त्याग सहज है, परंतु मानका त्याग बड़ा कठिन है। यह जितना ही कठिन है, उतना ही अधिक आनन्दमय है। तपस्यासे ही आध्यात्मिक आनन्दरूपी अमृत प्राप्त होता है।

अपने दैनिक जीवनमें हम जिन-जिन व्यक्तियोंके सम्पर्कमें आयें, उन सबके प्रति हमें सहयोग और सहानुभूतिका भाव रखना चाहिये। सहयोगसे सहयोग और प्रेमसे प्रेम पैदा होता है। जिसे हम अपना मित्र समझेंगे, वह हमारा मित्र बन जायगा और जिसे अपना प्रेमी समझेंगे, वह प्रेमी बन जायगा। यदि हम दूसरोंकी सफलताके लिये शुभकामना करेंगे, तो वे भी हमारी सफलताके लिये शुभकामना करेंगे। जब हम दूसरोंके अंदर सद्गुण देखते हैं, तब वे भी हमारे अंदर सद्गुणोंका दर्शन करते हैं। जब हम दूसरोंको अच्छे निर्देश देते हैं, तब वे भी हमें अच्छे निर्देश देते हैं। जब हम दूसरोंकी उन्नतिमें विश्वास करते हैं, तब वे भी हमारी उन्नतिमें विश्वास करते हैं। जैसा भाव हम दूसरोंके प्रति रखते हैं, वैसा ही भाव वे हमारे प्रति रखते हैं तथा हम स्वयं भी अपने प्रति वैसा ही भाव रखते हैं। दिनभरमें हम जो भी सोचते और करते हैं तथा जिन व्यक्तियोंके साथ जैसा व्यवहार करते हैं, उन सबकी छाप हमारे व्यक्तित्वपर पड़ती है, जिसके द्वारा हम सफलता या असफलता प्राप्त करते हैं।

अपने निश्चित किये हुए लक्ष्यमें सफलता प्राप्त करनेका सबसे बड़ा साधन हमारे मित्रोंका सहयोग है। अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें निश्चितरूपसे सहायक सिद्ध हो सकनेवालोंके साथ ही हमें घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करना चाहिये। जो अपने लक्ष्यके प्रतिकूल हों, उनके साथ सम्पर्कको नीतिपूर्वक बचा जाना चाहिये। एक महान् मनोवैज्ञानिकका कथन है कि कोई भी दो व्यक्ति जब सम्पर्कमें आते हैं, तब उनके मिलनसे एक अदृश्य चैतन्य-शक्ति उत्पन्न हो जाती है। यह अदृश्य शक्ति उन दोनोंकी पृथक्-पृथक् सामर्थ्यसे अधिक सामर्थ्य रखती है और उतने ही अंशोंमें उन दोनों व्यक्तियोंके लिये हितकर या अहितकर सिद्ध होती है, जितने अंशोंमें वे एक-दूसरेके प्रति सहानुभूति या द्वेष रखते हैं। यही कारण है कि अपने प्रति द्वेष या अन्य किसी प्रकारका दुर्भाव रखनेवाले व्यक्तिका सम्पर्क अत्यन्त घातक सिद्ध होता है, जब कि परस्पर प्रीति रखनेवाले दो मित्रोंका सम्पर्क दोनोंके लिये ही अत्यन्त सुखद और हितकर होता है।

अपने सच्चे हितैषी मित्रोंके साथ अधिक-से-अधिक घनिष्ठ सम्पर्क रखना दोनों ही पक्षोंके लिये परम हितकर है। अतः प्रत्येक व्यक्तिका यह परम पवित्र धर्म है कि अपने हितैषियोंसे मिलना-जुलना और पत्र आदिद्वारा प्रीतिका आदान-प्रदान करनेमें प्रमाद न करें। प्रीतिसे ही शक्ति, उत्साह और कार्यशीलताका संचार होता है। प्रेम प्राप्त करनेके लिये ही धन और यशका अर्जन करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। मित्रोंके प्रोत्साहनसे ही घोर निराशामें आशाकी किरण दिखायी देती है और धैर्य तथा विश्वासके सहारे मनुष्य मंजिलतक निरन्तर बढ़कर सफलता प्राप्त करता है।

किसी भी संस्थाकी उन्नति और सुख-शान्तिका प्रधान कारण उसके सदस्योंका पारस्परिक सहयोग होता है। पृथक्-पृथक् सदस्योंमें विद्या-बुद्धि और परिश्रमशीलता कम होनेपर भी सहयोगके बलपर वे उन्नति करते हैं। एकके विद्याभावको दूसरा दूर करता है तथा दूसरेकी निर्बलताको तीसरा दूर करता है। वास्तवमें एक आदर्श संस्थाके सदस्योंकी प्रतिभा अथवा योग्यता व्यक्तिगत न रहकर सामूहिक हो जाती है। सबका एक मत, एक स्वर, एक लक्ष्य और एक कार्य होता है। प्रत्येक सदस्य व्यक्ति न रहकर समष्टिका एक अङ्ग बन जाता है। प्रत्येक व्यक्ति जब समूहके ही स्वार्थको सम्मुख रखता है, तब प्रत्येककी अपनी योग्यता और शक्ति कई गुना बढ़ जाती है। ज्ञान और शक्तिके नये-नये स्रोत खुल जाते हैं।

प्रत्येक कुशल नेता सहयोगके मूल्यको समझता है और अपने अनुयायियोंमें प्रयासपूर्वक सहयोगभावना बढ़ानेके लिये सदैव सचेष्ट रहता है। सहयोगसे ही अनुशासन उत्पन्न होता है। अपनी संस्थाके नेता और प्रत्येक सदस्यके साथ पूर्ण

हार्दिक सहानुभूति रखनेसे ही हम अनुशासनका पालन कर सकते हैं। अनुशासनके बिना कोई भी परिवार, उद्योग या राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। प्रत्येक कुशल उद्योगपति अनुशासन और सहयोगके महत्त्वको समझता है तथा अपने उद्योगमें किसी जिम्मेदारीके पदपर नियुक्ति करते समय सबसे पहले यही देखता है कि उम्मीदवारमें दूसरोंका सहयोग प्राप्त करनेका तथा स्वयं अपना सहयोग दूसरोंको प्रदान करनेका स्वाभाविक गुण है या नहीं। अभ्यासके द्वारा सहयोगभाव जबतक स्वभावमें नहीं परिणत हो जाता, तबतक वह स्पष्टरूपसे दूसरोंको नहीं दिखायी देता। यह तो हृदयका सेवा-भाव है, जो चेहरेपरकी प्रत्येक रेखामें, हमारे प्रत्येक कार्यमें स्पष्ट झलकता है। सेवा-भावको अपनाना ही सामाजिक जीवनमें लोकप्रिय बननेका रहस्य है। यही मित्र बनानेकी कला है। यही दूसरोंका प्रेम प्राप्त करनेकी कुंजी है।

हमारे दैनिक जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण समय या तो अपने परिवारमें व्यतीत होता है या उन लोगोंमें, जिनके साथ रहकर हम अपनी आजीविकाके लिये कार्य करते हैं। परिवारसे हमारे सामाजिक जीवनका प्रारम्भ होता है और यही हमारे लिये सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था रहती है। परिजनोंके सहयोग और स्नेहपर ही बहुत कुछ हमारी सफलता और उन्नति निर्भर करती है। हमारा पारिवारिक जीवन ही हमारे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यका आधार होता है तथा स्नेही परिजनोंसे ही हमें धनोपार्जन, विद्योपार्जन और यशोऽपार्जनकी प्रेरणा और क्षमता प्राप्त होती है। स्वास्थ्य-शास्त्रियोंने स्वास्थ्यके तीन आधार-स्तम्भ बताये हैं—भोजन, निद्रा और ब्रह्मचर्य। इन तीनोंका ही ठीक रहना परिवारके पारस्परिक सहयोगपर निर्भर है। जैसा हम भोजन करते हैं, वैसा ही हमारा शरीर, हृदय और मस्तिष्क बनता है। इसमें भी भोजन बनाते समय तथा भोजन करते समय घरमें कैसा वातावरण रहता है, उसका महत्त्व अधिक है। स्नेहपूर्ण वातावरणमें प्रसन्नतासे किया हुआ रूखा-सूखा भोजन अधिक उपयोगी होता है। कलहपूर्ण वातावरणमें बना हुआ अच्छे-से-अच्छा भोजन भी विष बन जाता है। भोजन करते समय यदि मनमें अशान्ति हो, तो भी उस भोजनको विष ही समझिये।

सजीव और निर्जीव पदार्थोंमें भेद यह है कि सजीव पदार्थोंमें विद्युत् प्रवाहित होती रहती है। हमारा प्रत्येक विचार एक विद्युत्-तरङ्गके रूपमें हमारे मस्तिष्कसे निकलता है। ये विचार-तरङ्गें बड़ी द्रुत-गतिसे चलती हैं और अपने आस-पासके वातावरणको ही नहीं, बल्कि समस्त विश्वको प्रभावित करती हैं। परिवारके प्रत्येक सदस्यकी विचार-तरङ्गोंकी छाप परिवारके समस्त वातावरणपर तथा घरकी प्रत्येक वस्तुपर पड़ती है। यदि ये विचार-तरङ्गें बलवती हों तो घरके बाहर भी काफी दूरतकके वातावरणमें हम इन विचार-तरङ्गोंके अमृत या विषका अनुभव कर सकते हैं। यही कारण है कि लोकोपकारके विचार रखनेवाले महापुरुषोंके निवासस्थानके निकट पहुँचते ही हमें अलौकिक शान्तिका अनुभव होता है तथा हमारे मनके क्षुद्रभाव शान्त होकर हममें भी उदारताका संचार होने लगता है। इसी विद्युत्के माध्यमसे महापुरुषोंका सत्सङ्ग हमारे अंदर नया जीवन फूँकता है। इसी विद्युत्की प्रबलताके कारण संतोंके स्पर्शमें रोग-निवारणकी जादूभरी शक्ति होती है। जैसे एक जलते हुए दीपकसे दूसरे बिना जले दीपकको प्रकाश प्राप्त होता है, वैसे ही महापुरुषोंके सत्सङ्गसे हमें प्रकाश प्राप्त होता है। यह शक्ति सद्विचारोंके अभ्याससे प्राप्त होती है।

जिस घरमें सद्विचारोंकी विद्युत्-तरङ्गें प्रवाहित होती हैं, उस घरमें घुसते ही हम इन तरङ्गोंको पहचानकर यह जान सकते हैं कि इस घरमें रहनेवाले प्रायः किस प्रकारके विचार करते हैं तथा उनके मध्य परस्पर कैसे सम्बन्ध हैं। हम प्रायः अपने परिवारके सदस्योंके बारेमें ही सोचते हैं और रात्रिमें जब सो जाते हैं, तब भी अंदर-ही-अंदर हमारे मनका जो प्रदेश जागता रहता है, वह उन्हीं विषयोंपर विचार करता रहता है, जिनसे हम जाग्रत् अवस्थामें विशेष प्रभावित रहते हैं। अतः पारिवारिक जीवनके मधुर या कटु अनुभव निद्राकालमें भी हमारा पीछा नहीं छोड़ते। बल्कि निद्राकालमें वे और भी प्रबलरूपसे अपना कार्य करते हैं। खास तौरसे रात्रिमें सोते समय सबसे अन्तमें तथा सबेरे जागनेपर सबसे पहले हमारा मन जिस विचारधारामें बहता है, उसी विचारधारामें वह अंदर-ही-अंदर दिन-रात बहता रहता है। अतः ये ही दोनों वेलाएँ आध्यात्मिक साधनाके लिये सबसे उत्तम मानी जाती हैं। इन दोनों वेलाओंमें मनको उत्तम सात्त्विक विचारोंमें ही तल्लीन रखनेका अभ्यास करना व्यक्ति और परिवार दोनोंके लिये श्रेयस्कर है।

सद्विचारों और सद्भावनाओंका अभ्यास जब साथ बैठकर सामूहिक रूपसे मिलकर किया जाता है, तब उसके बहुत प्रबल संस्कार हमारे हृदयोंपर पड़ते हैं। जब सारे सदस्य

परिवारकी सुख-शान्तिके लिये प्रार्थना करते हैं, तब उनकी विद्युत्-तरङ्गें मिल जाती हैं और वे उनके हृदयोंको एक-दूसरेके निकट ला देती हैं। दिनमें यदि कोई कटु प्रसङ्ग आया हो तो उसका मैल सायंकालीन प्रार्थनामें हृदयोंके इस पुण्य संगमसे धुल जाता है और एक चिरनवीन प्रेमकी धारा सबके हृदयोंमें बहने लगती है। इसी प्रकार प्रातःकालीन प्रार्थना हमारे पारिवारिक अभ्युदयके लिये नित्य नवजीवनके द्वार खोलती है तथा हमारे अंदर नित्य नवीन आशा, विश्वास, उत्साह और धैर्यका संचार करती है।

अपने-अपने परिवारकी रुचि और परिस्थितिके अनुसार हम सामूहिक प्रार्थनाकी अलग-अलग रूप-रेखा बना सकते हैं और इस रूप-रेखाको परिवर्तनशील परिस्थितियोंके अनुसार चाहे जब बदला जा सकता है। सामूहिक प्रार्थनाके लिये घरमें एक स्थान निश्चित कर लिया जाय, जहाँ सब लोग नित्यप्रति एक निश्चित समयपर एकत्र हों। अपने-अपने आसनपर या एक सम्मिलित दरी या चटाईपर सब आरामसे कमर सीधी करके बैठ जायँ। अपने-अपने चित्तको अन्य सब विषयोंसे हटाकर एकमात्र आनन्दघन परमात्मामें ही केन्द्रित कर दें। इसके बाद आँख मूँदकर कुछ देर मौन प्रार्थना की जा सकती है। या कोई एक व्यक्ति किसी संतकी वाणी बोलता या गाता रहे तथा अन्य लोग या तो चुपचाप सुनते रहें या उसे दोहराते रहें। इसके अतिरिक्त यह भी एक रूप है कि कोई एक सदस्य या गृहपति गद्यात्मक भाषामें अपने शब्दोंमें परिवारके अभ्युदय और कल्याणके लिये प्रार्थना करे और अन्य सब लोग मौन रहते हुए उसकी प्रार्थनामें मानसिक योग देते रहें। उदाहरणके लिये गद्यात्मक भाषामें यह प्रार्थना की जा सकती है—

'हे प्रभु ! हमारे परिवारके सब सदस्योंमें परस्पर सहयोग और सद्भावना हो। हम एक-दूसरेके अपराधोंको क्षमा करें तथा अपने-अपने अपराधोंके लिये एक-दूसरेसे क्षमा-याचना करें और पश्चात्ताप करें। हम परिवारकी उन्नतिके लिये एक निश्चित लक्ष्य बनाकर उसकी प्राप्तिके लिये एक निश्चित योजना बनायें तथा उस योजनाके अनुसार मिलकर परिवारकी श्रीवृद्धिके लिये कार्य करें। हे प्रभु ! हमारे परिवारके प्रत्येक सदस्यको विद्या-बुद्धिसे तथा हमारे घरको धन-धान्यसे सम्पन्न बना। हम सबको यशस्वी, तेजस्वी, विद्वान्, लक्ष्मीवान्, स्वस्थ और सुशील बननेकी प्रेरणा प्रदान कर। हम सबके मित्र बनें तथा सब लोग हमारे मित्र बनें। हम सबको अपने मित्रके रूपमें देखें। हम सबके अंदर सद्गुण ही देखें, बुराई केवल अपने अंदर देखें। सब हमारे मित्र हैं, दसों दिशाएँ हमारी मित्र हैं तथा आप हमारे परम मित्र हैं। हम सबके अंदर आपका दर्शन करें। हे प्रभु ! सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सबका भला हो, किसीको दुःख न प्राप्त हो। सबको सद्बुद्धि प्राप्त हो और सब बाधाओंपर विजय प्राप्त करके अपनी अभीष्ट सफलता प्राप्त करें। हम भी अपनी अभीष्ट-सिद्धि तथा आपका सतत और अनन्त प्रेम प्राप्त करें। आप सदैव हमारे हृदय-मन्दिरमें विराजते रहें और हर समय हमारा मार्ग-प्रदर्शन करते रहें। हे प्रभु ! आप सदैव हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। आप सदैव हमारे लिये मङ्गलमय विधान कर रहे हैं। हमें सद्बुद्धि प्रदान कीजिये कि हम आपके ऊपर भरोसा करके चिन्ताएँ छोड़ दें और शान्तचित्त होकर अपने कर्तव्योंका पालन करें। हे प्रभु ! हमने अब आपके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित कर लिया है और अब हम आपके द्वारा आलोकित कर्तव्यपथपर चल रहे हैं। आपकी ज्योतिर्मयी प्रेरणासे अब हम आपके अमृतपथपर चल रहे हैं।' ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अकथ महिमा

चतुरानन सम बुद्धि बिदित जो होहिं कोटि धर।
एक एक धर प्रतिन सीस जो होहिं कोटि बर ॥
सीस सीस प्रति बदन कोटि करतार बनावहिं।
एक एक मुख माहिं रसन फिर कोटि लगावहिं ॥
रसन रसन प्रति सारदा कोटि बैठि बानी बकहिं।
नहिं जन 'अनाथ' के नाम की महिमा तबहुँ न कहि सकहिं ॥

हिंदू गृहस्थके लिये पाँच महायज्ञ

(लेखक—डा० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भारतीय शास्त्रकारोंने समस्त हिंदूजातिके उपकार तथा अधिकाधिक कल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर पाँच ऐसे दैनिक कर्मोंका विधान रखा है, जिससे जीवन पूर्ण बनता है । प्रत्येक बड़े कर्मको 'यज्ञ' शब्दसे सम्बोधित किया गया है, जिससे उसकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है ।

ये पाँच महायज्ञ हैं—(१) ब्रह्मयज्ञ, (२) देवयज्ञ, (३) पितृ-यज्ञ, (४) अतिथियज्ञ और (५) भूतयज्ञ । 'शतपथब्राह्मण' नामक ग्रन्थमें इन पाँचोंका बड़ा माहात्म्य बताया गया है । यहाँतक कहा गया है कि जो पुरुष इनको यथाशक्ति नहीं करता, वह देवताओं, पितरों और ऋषियोंका सदा ऋणी रहता है । जैसे किसी कर्जदारको सदा अपने कर्जको देनेका ही भय लगा रहता है, उसी प्रकार उपर्युक्त कर्मोंको न करनेवाला सदा मन-ही-मन डरता रहता है । उसका कल्याण नहीं होता और मनमें सुख-शान्ति नहीं रहती । अतः प्रत्येक महायज्ञका अर्थ समझ लेना चाहिये और यथाशक्ति अनुष्ठान करना चाहिये ।

१—ब्रह्मयज्ञ

अर्थात् ब्रह्म (ईश्वर)-चिन्तन । यह दो प्रकारसे किया जा सकता है—(१) वेद-मन्त्रोंसे परमात्माकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना करना । दिनका प्रारम्भ इसी यज्ञसे प्रारम्भ होना चाहिये । ईश्वरीय उपासनासे मनुष्यका सम्बन्ध उच्च दैवीशक्तियोंके साथ हो जाता है और उसमें ब्रह्मतेजका उदय होता है । (२) स्वाध्याय । गृहस्थको चाहिये कि वह प्रातः नियमपूर्वक वेद, भगवद्गीता, रामायण, योगवाशिष्ठ आदि सद्ग्रन्थोंमेंसे किसीका भी नित्यप्रति पाठ करे, उन्हें समझनेका प्रयत्न करे, उनपर विचार करे, अपने जीवनकी आलोचना करे और यथाशक्ति अपने आचरणको उसके अनुकूल बनाये ।

स्वाध्याय हमारे आत्मविकासका एक प्रधान अङ्ग है । इसलिये उच्चतम ज्ञानसे परिचित होते रहना आवश्यक माना गया है । परमार्थचिन्तनके साथ स्वाध्याय होनेसे जीवन आनन्दसे व्यतीत होता है । स्वाध्यायमें कई बातें महत्त्वपूर्ण हैं—जैसे धर्मपुस्तकका गहरा अध्ययन, उसके अर्थोंपर पर्याप्त चिन्तन, विचार और श्रद्धापूर्वक उसपर आरूढ़ होनेका व्रत । श्रद्धा और नियमका होना आवश्यक है । यदि कोई व्यक्ति केवल दूसरोंको दिखानेमात्रके लिये स्वाध्याय करता है तो वह ढोंग करता है । अध्ययन और आचरणका संयोग होना चाहिये । स्वाध्याय छोड़ना नहीं चाहिये, अन्यथा पाप लगता है । उसमें आलस्य भी न होना चाहिये । इसीसे 'शतपथ'में कहा गया है—

'जल चलते हैं, सूर्य चलता है, चन्द्रमा चलता है, नक्षत्र चलते हैं । इसी प्रकार स्वाध्यायका क्रम प्रतिदिन नियमपूर्वक चलना चाहिये । यदि कोई स्वाध्याय नहीं करता, तो यह बात वैसी ही होती है जैसे इन देवताओंके काम न करनेपर होती । इसलिये उत्तम व्यक्तिको नियमसे स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये ।'

२—देवयज्ञ

देवयज्ञका अर्थ है अग्निहोत्र, हवन, यज्ञ इत्यादि । इसे देवयज्ञ इसलिये कहा गया है कि इसमें दिव्य पदार्थोंद्वारा शास्त्रोंके मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए प्राकृत शक्तियोंकी शुद्धि तथा पुष्टि होती है । हवनसे वातावरण पवित्र बनता है, दिव्य भावनाओंका विकास होता है, प्राणिमात्रकी भलाई होती है । वायु शुद्ध होती है, वर्षाका जल शुद्ध और पुष्ट होता है, जिससे अन्नादि वनस्पतियाँ और ओषधियाँ अच्छी होती हैं । सद्-भावनाका प्रसार होता है । वेदमन्त्रोंके उच्चारण और सामूहिक ईशचिन्तनसे परमात्माकी शक्तियोंका प्रकाश हमें मिलता है ।

३—पितृयज्ञ

'पितृ'का अर्थ है हमारे बड़े । यह यज्ञ हमें उन सम्बन्धियोंके प्रति आदरका भाव रखना सिखाता है, जो हमसे बड़े हैं, पूज्य हैं, हमारे लिये हितकारी हैं, जो बाल्यावस्थासे लेकर बड़े होनेतक हमारी रक्षा करते

रहे हैं। इन्हें हम सम्बन्धानुसार विभिन्न नामोंसे पुकारते हैं—माता, पिता, पितामह, पितामही, प्रपितामह, प्रपितामही इत्यादि। ये सब पितर कहलाते हैं।

दूसरे प्रकारके पितर हैं—जो महात्मा, ऋषि, मुनि हमारे धर्मग्रन्थोंके निर्माता। इन्होंने जीवनको अच्छी तरह देखा है, अनुभव किया है और वे सचाइयाँ निकाली हैं, जो शास्त्रोंके रूपमें हमारे निकट विद्यमान हैं। तीसरे प्रकारके पितर वे देवी-देवता हैं, जो ईश्वरीय शक्तियोंके प्रतीक हैं और सदा हमारे चारों ओर कल्याणकारी वातावरणकी सृष्टि करते हैं, संहारक—विनाशकारी शक्तियों-को हटाते हैं और हमें पोषक शक्ति देते हैं। चौथे वे हैं, जिनकी मृत्यु हो चुकी है। इस यज्ञ-द्वारा उपर्युक्त सभी प्रकारके पितरोंके प्रति श्रद्धा दिखानेका विधान है।

यह कार्य दो प्रकारसे किया जाता है। पहला उपाय है, श्राद्ध और दूसरा तर्पण। अर्थात् पहला उपाय तो यह है कि पितरोंके वचनों और चरणोंमें असीम श्रद्धा रखना और दूसरे उस श्रद्धासे उनकी सेवा-शुश्रूषा करके उन्हें तृप्त करना। हमें चाहिये कि जीवित पितरों (समस्त गुरुजनों) के प्रति अपनी श्रद्धा रखते हुए उनकी आज्ञाका पालन करें, उनकी सेवा करें, अपने-आप दुःख उठाकर उनको सुख पहुँचायें, भोजन-वस्त्रादि द्वारा उन्हें प्रसन्न रखें।

मृत पितरोंके उपकारोंका स्मरण, चिन्तन करते हुए उनको सद्भावसे धन्यवाद देना, स्वयं उनके सदाचरणको अपने जीवनमें धारण करना, उनकी प्रचार की हुई सचाइयोंका प्रचार करना, उनकी स्मृतिमें कुएँ, तालाब, धर्मशालाएँ और अन्य परोपकारकी संस्थाएँ खुलवाना—ये सब पितृ-यज्ञकेअन्तर्गत ही हैं। इसमें पितृसंज्ञक शक्तियोंका आदर करना इष्ट है। इस आदरभावसे हम स्वयं अपना ही हित करते हैं; क्योंकि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे हमें पितरोंकी सद्भावनाएँ मिलती रहती हैं।

४—मनुष्य-यज्ञ या अतिथि-यज्ञ

हिंदू-संस्कृति अतिथिको भी देवता मानकर श्रद्धा करना सिखाती है। अतिथिका समयके अनुसार सेवा-सत्कार करना हमारा धर्म है। यदि भोजनके समय या अन्य कभी कोई परिचित या अपरिचित व्यक्ति घरमें आ जाय, तो उसको मधुरभाषण, जल, आसन, भोजन, वस्त्र इत्यादि देकर सत्कार करना अतिथियज्ञको पूरा करना है। यदि कोई व्यक्ति हमारी सहायता या सहयोग चाहे तो यथासाध्य हमें अवश्य देना चाहिये।

५—भूत-यज्ञ या बलि-वैश्वदेव

'भूत' शब्दका अर्थ है 'जीव'। ऊपर मनुष्य-जातिकी भलाईका विधान स्पष्ट किया गया है। किंतु हिंदू-संस्कृति बड़ी उदार है। वह केवल मनुष्यकी ही नहीं, वरं जीवमात्रकी भलाईमें विश्वास करती है।

इस यज्ञमें पशु-पक्षी तथा वृक्ष आदि उपकारी तत्त्वोंके संरक्षण, पालन-पोषण और सेवाका विधान है। ये सभी 'भूत' शब्दमें आ जाते हैं। हमारा जीवन पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति इत्यादि सबपर टिका हुआ है। गौ, बैल-जैसे उपकारी पशु और मोर, हंस, तोता, पुष्प इत्यादि हमारे नित्यप्रतिके मित्र हैं। वृक्ष हमें फल-भोजन इत्यादि देते हैं। फूलोंके पेड़ोंसे घर-उद्यानकी शोभा बढ़ती है। उनकी हरियाली हमारे मनको हरा कर देती है। हिंदू-संस्कृतिने भूत-यज्ञके अन्तर्गत हमें यह शिक्षा दी है कि हम पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पति-जैसे उपयोगी और कल्याणकारी तत्त्वोंके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करें।

यह दो प्रकारसे सम्भव है। जहाँ पशु-पक्षियोंके लिये उचित भोजन या जलका प्रबन्ध नहीं है, वहाँ गोशाला या पशुशालाओंका प्रबन्ध करना, पशुओंके लिये जल पीनेके स्थान बनवाना, पुराने कुएँ-तालाबोंकी मरम्मत करवाना और बीमार पशुओंके निःशुल्क इलाजका प्रबन्ध करना। गौ पालना या दूध देनेवाली गौका दान करना। दूसरे, वृक्षारोपण करना और पुराने वृक्षोंकी सेवा-सहायता करना, उद्यान लगाना, पौधोंको सींचना। इस प्रकार हमारी संस्कृतिमें अधिक-से-अधिक व्यक्तियोंकी सेवाका विधान है। भारतीय संस्कृतिके पुनःस्थापनद्वारा कैसा मनोरम दृश्य उपस्थित हो जाता है, इसका वर्णन एक कविने किया है—

यत्र नास्ति दधिमन्थनघोषो
यत्र नो लघुलघूनि शिशूनि ।
यत्र नास्ति गुरुगौरवपूजा
तानि किं बत गृहाणि वनानि ॥

अर्थात् जहाँ दूध बिलोनेका घोष नहीं सुनायी देता और जहाँ छोटे-छोटे बच्चोंके खेलने-कूदनेका कोलाहल नहीं सुन पड़ता और वृद्धजनोंकी पूजा नहीं होती, वह घर नहीं बल्कि एक तरहका जंगल है। इसी प्रकार वाटिकामें छोटे-छोटे वृक्षोंको हरे-भरे देखना, पेड़ोंको अपने हाथसे सींचना, उनके फूलों-पत्तोंको सँवारना अद्भुत आनन्दकी सृष्टि करनेवाला है।

इस प्रकार अधिक सुख और शान्तिके लिये प्रत्येक सद्‌गृहस्थको उपर्युक्त पाँच कर्म अवश्य करने चाहिये। हमारा जीवन ऐसा हो, जिससे अधिक-से-अधिक लोगोंकी भलाई और उन्नति हो सके। समस्त समाजमें हमारी अपनी ही आत्माका विस्तार दिखायी दे रहा है। एक ही ईश्वरका नाना रूपोंमें प्रकाश है। इस दृष्टिसे यह सब हमारा ही एक परिवार है। सब हमारे बन्धु-बान्धव ही हैं। हमारा सबके साथ एक रक्तका सम्बन्ध है। यदि हम किसीका बुरा करते हैं या उसे ठगनेकी चेष्टा करते हैं तो वास्तवमें हम अपना ही बुरा करते हैं और अपने आपको ही ठगते हैं।

रहो और रहने दो !

मनुष्यो ! तुम संसारमें आनन्द और शान्तिसे जीवन व्यतीत करनेके लिये आये हो। तुम्हारे मन, वचन और कर्ममें वे शुभ शक्तियाँ रखी गयी हैं, जो संसारभरके लिये कल्याणकारी हैं। तुम्हारे स्वयंके कार्योंकी संसारके सुख-शान्तिपर प्रतिक्रिया होती हैं। यदि तुम्हारे संकल्प अच्छे हैं और कार्य उत्तम भावोंसे होते हैं तो निश्चय ही तुम संसारकी सुख-वृद्धि कर सकोगे।

तुम संसारमें आनन्दपूर्वक रहना चाहते हो तो दूसरोंको आनन्दपूर्वक रहने दो। तुम यदि समझते हो कि दूसरेको सतानेसे तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ता तो यह तुम्हारा भ्रम है। वास्तवमें तुम्हारी ठगी, धोखेबाजी, अत्याचार स्वयं तुम्हें ही नष्ट करते हैं। तुम अपनी ही आत्माका हनन करते हो।

समाजमें कोई भी अलग नहीं है। सब एक बड़े शरीरके अङ्ग हैं। पूरा समाज एक विशाल शरीर है। क्या तुम यह पसंद करोगे कि तुम्हारे शरीरका एक हाथ दूसरे हाथको काट डाले, एक पाँव दूसरे पाँवको चोट पहुँचाये, दाँत खुद तुम्हारी जीभको काट डालें, हाथ सिरको तोड़ डालें। नहीं, तुम यह कदापि पसंद नहीं करोगे। इससे तुम्हारा अस्तित्व ही नष्ट हो जायगा।

इस मानवसमाजके भिन्न-भिन्न व्यक्ति भी इसी प्रकार तुम्हारे सामाजिक शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं। कोई व्यक्ति हाथकी तरह है, कोई आदमी पाँवोंकी तरह; कोई नेत्र है तो कोई कान, नाक, मुँह, हृदय, जिगर, फेफड़ोंकी जगह है। सबके परस्पर मिलकर चलनेसे ही समाज विकसित होता है, आगे बढ़ता है, पनपता है।

यदि तुम किसी व्यक्तिपर हिंसा, बलात्कार, झूठ, कपट या अत्याचार करते हो तो वास्तवमें स्वयं अपने आपको ही घायल करते हो। यदि तुम रहनेका अधिकार माँगते हो तो दूसरोंको स्वतन्त्रतापूर्वक आनन्द और निर्भयतासे जीते रहने दो।

तुम दूसरोंको अधिक दिन धोखेमें न रख सकोगे। एक-न-एक दिन तुम्हारा पाप प्रकट हो ही जायगा। फिर तुम्हें जो अपमान सहन करना पड़ेगा, उसकी पीड़ा सहस्रों बिच्छुओंके डंक मारने-जैसी होगी। पापपर अधिक दिनतक पर्दा नहीं डाला जा सकता।

दुर्योधन समझता था कि भरी सभामें द्रौपदीकी मानहानि करके वह कोई पापकर्म नहीं कर रहा है। कंस समझता था कि देवकीके पुत्रोंकी हत्या करनेमें कुछ अनुचित नहीं है। रावण समझता था कि महासती सीताको अपहरणकर लङ्का ले जानेमें कुछ भी बुराई नहीं है। बाली स्वयं अपने भाईकी सम्पत्ति हड़पने और सतानेमें दुर्व्यवहार नहीं मानता था।

किंतु पाप तो सिरपर चढ़कर बोलता है। पापीको

नष्ट कर देता है। दुर्योधन, कंस, रावण, वाली इत्यादि सबके पाप ही उन्हें खा गये, सदाके लिये श्मशानमें जलकर वे राख हो गये और छोड़ गये अपने पापोंकी काली छाया ! पाप अथवा दुराचार चाहे कैसा भी क्यों न हो, मनुष्यका सपरिवार नाश कर देता है।

पाप कभी-न-कभी, देर-सवेर अवश्य प्रकट होता है और सर्वनाशका कारण बनता है।

तुम्हारी ईमानदारी, सज्जनता, सचाई, निष्पक्षता आदिका बच्चोंपर, आनेवाली नयी पीढ़ीपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जैसे स्वयं माता-पिता होते हैं, वैसे ही उनके पुत्र-पुत्री आदि होते हैं। पापाचारके वातावरणमें पले हुए बच्चे स्वभावतः दुष्ट हो जाते हैं।

सद्गृहस्थीमें हमारे मनोविकार स्वच्छ होते रहते हैं, उनका विष दूर होता रहता है। बच्चों और धर्मपत्नीके सुखद सम्पर्कमें लोभ, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि मनोविकारोंका शोध होता है। इसलिये ईमानदारीका जीवन ही हर प्रकारसे वरणीय है, पूरे समाजका हित करनेवाला है।

अत्याचार, अन्याय, हिंसा, झूठ, कपट, व्यभिचार तुम्हारी आत्माके गुण नहीं हैं। इनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्द्रियाँ तुम्हें गुलाम नहीं बना सकतीं।

तुम तो निर्विकार सत्-चित्-आनन्द आत्मा हो। पूर्ण शान्त आत्मा हो। स्वतन्त्र हो। स्वच्छ हो। न्यायकारी हो। मानसिक संतुलनसे पूर्ण हो। परमात्मा सर्वव्यापी और न्यायकारी है। आत्माके रूपमें वह तुम्हारे अंदर विराजमान है। विवेकको सर्वोपरि मानना, दिव्यशक्तियोंका विकास करना, मानवताको ऊँचा उठाना—इन सत्प्रवृत्तियों-में ही तुम्हारी महानता संनिहित है।

शरीर अनित्य है

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

लोग पागल कहते हैं वैद्यराज चिन्तामणिजीको, यद्यपि सबको यह स्वीकार है कि उनके हाथमें यश है। नाडीज्ञानमें वे अद्वितीय हैं और उनके निदानमें भूल नहीं हुआ करती। वे जब चिकित्सा करते हैं, मरतेको जीवन दे देते हैं; किंतु अपने पागलपनसे उन्हें जब अवकाश मिले चिकित्सा करनेका।

इतना निपुण चिकित्सक—उसके हाथमें लोहेको सोना करनेवाली विद्या थी। वह अपना व्यवसाय किये जाता—लक्ष्मी पैर तोड़ उसके घरमें बैठनेको प्रस्तुत कब नहीं थी; किंतु पता नहीं कहाँसे एक जटाधारी भभूतिया साधु आ मरा इस बेचारे ब्राह्मणके यहाँ। इसे किसे पता क्या-क्या कह गया और पाँच-सात ताड़पत्र दे गया। उन ताड़पत्रोंपर क्या लिखा है, कोई कैसे बताये। वैद्यराज प्राणोंके साथ उन्हें चिपकाये फिरता है। घरकी जमा पूँजी भी इसने फूँक डाली। धुन चढ़ी थी इसे पारद-भस्म बनानेकी। ताँबेको सोना बनाना चाहता था। घर आता सोना छोड़कर स्वप्नके सोनेके पीछे इसने घर भी फूँक डाला।

सनकी है चिन्तामणि। उससे कोई पूछे, समझाये तो हँस देता है। सारे संसारको मूर्ख मान लिया है उसने। अब उसे अमर बननेकी सनक चढ़ी है। बहुत उमंगमें होगा तो अपने उन सड़े-गले ताड़पत्रोंका एकाध श्लोक बोल देगा।

अब यह चिड़ियोंके समान आकाशमें उड़ने और अमर बननेकी धुनमें है। ऋषि-मुनियोंकी बातोंपर हमें संदेह नहीं करना चाहिये; किंतु ये बातें ऋषियोंके योग्य हैं। इनका रहस्य वे ही जानते थे। ऐसी बातोंके पीछे पड़नेसे इस कलियुगमें कोई लाभ नहीं।

आज बारह वर्ष तो हो गये चिन्तामणिको। क्या

पाया उसने ? कितने माशे स्वर्ण बना सका ? अबतक अपने काममें लगा रहता तो सोनेका महल बना लेता। घरपर मोटर ही नहीं, हवाई जहाज खड़ा कर लेता और मनमाना उड़ता आकाशमें । रही अमर होनेकी बात, सो इस युगमें तो कोई अमर हुआ नहीं, होता नहीं ।

अब बच्चे भूखके मारे पड़ोसियोंके घर चक्कर काटते हैं । पण्डितानीकी साड़ीमें पेबंद लगते हैं। लोग ब्राह्मण समझकर अन्न घर न पहुँचा दिया करें तो चूल्हेमें चूहे डंड करें और पण्डितजीको अपनी सनकसे अवकाश नहीं । आज नर्मदा-किनारे जानेको टिकट कटा रहे हैं और कल हरद्वार या कामरूपको । कर्ज ले-लेकर अब यात्राएँ करने लगे हैं। इतनी लंबी यात्रा करके, इतना कष्ट उठाकर जब लौटेंगे—शरीर सूखकर काँटा हुआ मिलेगा । लायेंगे कुछ घास-फूस और उनकी बातें सुनो उस समय लगेगा जैसे संसारका सारा खजाना लूट लाये हों।

'यह बाजारमें मिलनेवाला कृष्णवर्ण शूद्र पारद है ।' पण्डितजीकी सनक अब उनके एक शिष्यपर भी चढ़ने लगी है, उसे भी वे चौपट करनेपर तुले हैं । उसे पारदमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि वर्ण बताया करते हैं—'स्वर्ण बन सकता है पीतवर्ण वैश्य पारदसे। आकाशमें उड़नेकी शक्ति तथा अमरत्व प्रदान करनेमें उज्ज्वल क्षत्रिय पारद समर्थ है और यदि कहीं रक्तवर्ण विप्र पारद मिल जाय—मुक्तिका साधन ही मिल गया समझो ।'

वैद्यराजकी कल्पनासे बाहर भी इन पारदोंका कोई अस्तित्व है, मुझे तो इसमें पूरा संदेह है । वैसे वे कहा करते हैं—'भगवान् दत्तात्रेयने रसेश्वर-सम्प्रदायका प्रवर्तन किया। सिद्ध रसका सेवन करनेसे अनामय, सुपुष्ट, अमर शरीर प्राप्त होता है और तब उस शरीरसे निर्विघ्न योगके साधन किये जा सकते हैं ।'

यह सब उन ताड़पत्रोंमें नहीं लिखा हो सकता। इन बारह वर्षोंमें ये पण्डितजी यही सब संग्रह करते रहे हैं। पारदके सम्बन्धमें कहाँ क्या लिखा है, यह सब अब आप इनसे पूछ सकते हैं । यह बात दूसरी है कि उसमें कितना सत्य है और कितना ऐसे ही सनकी लोगोंका लिखा है, यह जाननेका कोई साधन अब किसीके पास नहीं है ।

'हिंगुलोत्थ पारद भी केवल शुद्ध शूद्र पारद ही है। उससे सेवा ही सम्पन्न हो सकती है । रोगीके लिये औषध बननेसे अधिक उसका उपयोग नहीं है ।' वैद्यराजकी सम्मति है कि—'यह शूद्र-युग है । इसमें शेष तीनों पारद लुप्त हो गये हैं । अब उन्हें भगवान् दत्तकी कृपाके बिना पाना असम्भव है ।'

घरके लोगोंको चाहे जितना शोक हो, यह अनिवार्य था कि वैद्यराज भगवान् दत्तकी कृपा प्राप्त करनेका प्रयत्न करते। उन्होंने क्या मार्ग अपनाया कृपा प्राप्त करनेका, किसीको बता नहीं गये, केवल चले गये घरसे । इस बार अकस्मात् चले गये घरसे बिना किसीसे कुछ कहे और अब महीना बीत गया, उनका कोई समाचार नहीं है ।

× × ×

गिरनारके शिखरोंकी चढ़ाई आज भी सुगम नहीं है । यद्यपि श्रद्धालु सम्पन्न जनोंने सीढ़ियाँ बना दी हैं, फिर भी दत्तशिखरतक पहुँचते-पहुँचते लगभग दस सहस्र सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं । कौन हाँफ नहीं जायगा । उससे पर्याप्त आगे वह महाकाली-शिखर—दूरसे ही उसे प्रणाम कर लिया जा सकता है । कोई अत्यधिक साहस करे, तो भी उसे रात्रि गोरख-शिखरपर व्यतीत करनी चाहिये और प्रातः भगवान् दत्तात्रेयकी पादुकाका वन्दन करते आगे बढ़ना चाहिये । इसी प्रकार वह महाकालीकी गुफामें उनके श्रीचरणोंतक पहुँच सकता है ।

महाकाली-शिखरतक कदाचित् ही कोई यात्री पहुँच पाता है । इससे अधिक एकान्त चाहिये तो फिर कहीं शेरकी माँद चुननी होगी । वैसे शेर तो आते हैं गिरनारके पदप्रान्ततक । यह महाकाली-गुफा तो उनके क्रीड़ाक्षेत्रमें है । सिंहवाहिनीके भवनमें सिंह न आवे तो आवेगा कहाँ ।

आजकल एक वृद्ध आ बैठा है महाकाली-गुफामें । गौर वर्ण, तनिक दुहरा देह, जिसपर झुरियाँ पड़ी हैं, मस्तकके समस्त केश उज्ज्वल, बढ़ी हुई सफेद दाढ़ी-मूँछें; किंतु वह साधु नहीं है। उसके शरीरपर एक कुर्ता है मैला-सा और कटिमें मैली धोती है । सम्भवतः यात्राने उसके वस्त्र मैले कर दिये हैं और यहाँ उन्हें स्वच्छ करनेको साबुन

कहाँसे पाये वह । उसके पास एक लोटा है, एक कम्बल है बिछानेको, एक चद्दर है—बहुत सीमित सामग्री है उसके साथ ।

पासके स्रोतमें स्नान कर लेता है और लोटेके जलसे जगदम्बाकी मूर्तिको भी स्नान करा देता है। आप इसीको पूजा कहते हों तो कह लें; क्योंकि पूजाका और कोई उपकरण उसके पास नहीं है । आज सात दिन उसे यहाँ आये हो गये । ये सात दिन उसने केवल समीपके स्रोतके जलपर काटे हैं । अब चाहे तो भी शरीरमें इतनी शक्ति नहीं कि गिरनारकी चढ़ाई पार करके गोरख-शिखरतक भी पहुँच सके ।

'वहाँ शेर आते हैं। संध्यासे पहले गोरखशिखर लौट आना !' सात दिन पूर्व जब वह जूनागढ़से चला था, उसका विचार जानकर एक स्थानीय सज्जनने उसे सावधान किया था। उसने कोई उत्तर नहीं दिया था। लौट आने तो वह आया नहीं । सिंहवाहिनीकी शरणमें जो पड़ा है, उसे शेर कैसे खा जायगा ? आज सातवीं रात्रि प्रारम्भ हुई है । पिछली छः रात्रियोंमें तो उसने शेरको देखा भी नहीं । वैसे वनमेंसे वनपशुकी दहाड़ आती है, इसमें अद्भुत क्या है ?

आज उसे स्नान करनेमें कष्ट हुआ है । अब उठनेमें चक्कर आता है । चलते समय नेत्रोंके आगे अन्धकार छा जाता है । कदाचित् कल स्रोततक खिसककर जाना पड़े । अन्नमें प्राण हैं इस युगमें और सात दिनसे वह केवल जल पीकर रहा है ।

'मा ! जगज्जननी ! यदि मैं अधिकारी नहीं हूँ तो मुझे तुमने इधर क्यों आकृष्ट किया ?' आज वह जगदम्बाकी मूर्तिके सम्मुख घुटने टेके बैठा है रात्रिके प्रथम प्रहरसे ही—'अब मैं यहाँसे जानेवाला नहीं हूँ । मेरा शरीर यहीं छूटेगा । भगवान् दत्तको मैं कहाँ ढूँढूँ । तुम सर्वेश्वरी हो, सर्वशक्तिमयी हो और यहाँ गिरनारकी—दत्तके आश्रमकी अधिष्ठात्री होकर बैठी हो । मैं तुम्हें ब्रह्महत्या देकर मरूँगा ! कपालिनी ! इस ब्राह्मणका कपाल तुम्हारी मुण्डमालामें रहकर भी तुम्हें कोसता रहेगा !'

ब्राह्मण अपनी हठपर उतर आया था । उसका परम बल है अनशन और वह अनशन किये बैठा था जगद्धात्री जगदीश्वरीके द्वारपर—उस द्वारपर जहाँसे कोई कभी निराश नहीं लौटा । पागल ब्राह्मण—अरे, माँके यहाँ अनशनकी आवश्यकता ? जहाँ सहज स्नेहसे माँसे कुछ भी माँग लिया जा सकता है, अपनी अश्रद्धासे आकुल अविश्वस्त ब्राह्मण वहाँ अनशन किये बैठा है ।

'हैं !' मरण इतना सरल नहीं है । ब्राह्मण भयसे चौंक पड़ा । उसे लगा कि गुफामें शेर आ गया है और वह पीछेसे उसे सूँघ रहा है । उसने चौंककर पीछे देखा—कुत्ता, केवल एक कुत्ता था उसके समीप । सिरसे पैरतक काला, सुपुष्ट कुत्ता और वह अब भी पूँछ हिलाता ब्राह्मणको स्नेहपूर्वक सूँघे जा रहा था । जैसे वह प्रयत्न कर रहा था पहचाननेका कि यह व्यक्ति उसका कोई परिचित है या नहीं ।

'कुत्ता ! यहाँ ! इस समय अर्धरात्रिमें !' ब्राह्मण उस तगड़े, सुन्दर काले कुत्तेको इस प्रकार देख रहा था । जैसे कोई अद्भुत प्राणी देख रहा हो—'कैसे आया यह ? मुझे क्यों सूँघ रहा है ? भौंकता क्यों नहीं ?'

ब्राह्मणको अधिक सोचते रहनेका समय मिला नहीं । कुत्ता उसके कुर्तेका छोर मुखमें लेकर बार-बार खींचने लगा था । ब्राह्मणको लगा, वह कुछ कह रहा है । 'क्या चाहते हो तुम ? कहाँ ले चलना चाहते हो मुझे ? तुम्हारे साथ चलूँ ?'

ब्राह्मण किसी प्रकार उठ खड़ा हुआ । कुत्तेने कुर्ता छोड़ दिया और आगे-आगे चलने लगा । अब ब्राह्मणने उसका अनुगमन करना स्वीकार कर लिया था ।

× × ×

'रससिद्धि सांसारिक विषयभोगमें लिप्त रहकर मानवको पशुप्राय बननेमें सहायक होनेके लिये नहीं है !' ज्योत्स्ना-स्नात स्वच्छ शिलापर जलस्रोतके समीप एक ज्योतिर्मयी मूर्ति आसीन थी । दो श्वान शिलासे नीचे बैठे थे । तीसरा भी ब्राह्मणको कुछ दूर छोड़ दौड़ आया था और उनके पास ही शान्त बैठ गया था । ब्राह्मणकी दृष्टि गयी उधर—धन्य हो गया जीवन । प्रणिपात करते वह पृथ्वीपर गिर पड़ा । कुछ क्षण लगे आश्वस्त होकर उठनेमें ।

उसके कण्ठसे स्वर नहीं निकल रहा था। प्रभुके संकेत-पर वह शिलाके समीप बद्धाञ्जलि बैठ गया था। प्रभु अपने मेघगम्भीर स्वरमें कह रहे थे—'अक्षीणवासन सत्पुरुष अपनी साधनासे सृष्टिमें सत्त्वगुणको सुरक्षा देते रहें, उनका संकल्प लोकमें मङ्गलका विस्तार करे, इसलिये मैंने रससिद्धिका प्राकट्य किया।'

'यह क्षुद्र आज्ञाका अनुवर्तन करेगा।' किसी प्रकार ब्राह्मण कह सका।

'आज्ञाके अनुवर्तनकी बात नहीं।' भगवान् दत्तात्रेय प्रशान्त बने थे। 'रससिद्धि किसीकी किसी कामनाकी पूर्तिका साधन नहीं। वह सृष्टिका निगूढ़ रहस्य है और केवल उन सिद्धसत्त्व अधिकारियोंके लिये है, जिनका 'अहं' सर्वात्माको अर्पित हो चुका है।'

'श्रीचरणोंके समीप आकर भी मैं अभागा ही रहूँगा।' ब्राह्मण क्रन्दन कर उठा।

'अच्छा, तुम देखो!' प्रभुकी अर्धोन्मीलित दृष्टि एक बार उठ गयी ब्राह्मणकी ओर।

'हे भगवन्!' कुछ क्षणमें चीत्कार कर उठा ब्राह्मण। वह क्या देख रहा है—उसकी स्त्री मर गयी, पुत्र वृद्ध हुए और मर गये। पौत्र मरणासन्न पड़ा है……उसके कुलमें कोई नहीं रहा। कोई नहीं रहा उसके परिचितोंमें, सम्बन्धियोंमें। वह जिससे स्नेह करता है, वही मर जाता है। मृत्यु—मृत्यु! आज यह, कल वह, परसों तीसरा—वर्ष जैसे छोटे हो गये हैं। उसे रोना—केवल मरनेवालोंके लिये रोना रह गया है। क्यों जीता रहे, किसके लिये? अमरत्व—उसे अमरत्वका प्रसाद मिला है रुदन! चिल्ला उठा वह—'नहीं चाहियें ऐसा अमरत्व!'

'इस शरीरका धर्म है नष्ट होना। तुम जिन्हें अमर मानते हो, वे भी मरेंगे।' ब्राह्मण जब उस दृश्यसे उपरत होकर आश्वस्त हुआ, प्रभु कह रहे थे—'ब्रह्माको भी जब मरना है, तब उनकी सृष्टिके प्राणी अमर कैसे हो सकते हैं। आज जो रससिद्धिसे अमर हुए हैं, उनका अमरत्व कल्पपर्यन्त है। केवल ब्रह्माके एक दिन वे जी सकते हैं। मृत्यु शरीरका धर्म है।'

'मैं मूर्ख हो गया था।' ब्राह्मणमें अब कोई आग्रह रह नहीं गया था।

'तुम रससिद्धिका संकल्प लेकर आये, वह तुम्हें प्राप्त होगी।' भगवान्‌के अद्भुत भाव कौन समझे—'किंतु इस शरीरके शान्त होनेतक संतोष करो। इसके प्रारब्धको पूर्ण हो लेने दो। शरीर और उसके सुख-भोगकी वासनाएँ समाप्त कर लो पहिले इसी शरीरमें।'

× × ×

वैद्यराज चिन्तामणि दूसरे महीने घर लौट आये। उनके पुत्र और स्त्रीको ही उन्हें पहिचाननेमें प्रयत्न करना पड़ा। स्वर और आकृतिमात्र ही तो थी वह। सुन्दर सुपुष्ट शरीर एक तरुण आकर कहे कि 'मैं चिन्तामणि हूँ' तो कोई झटपट कैसे विश्वास कर ले। क्या हुआ जो उसके केश उज्ज्वल थे। बड़ा आश्चर्य हुआ लोगोंको।

'आपने रससिद्धि प्राप्त कर ली?' चिन्तामणिसे बार-बार पूछा गया यह प्रश्न; किंतु उन्होंने किसीको उत्तर नहीं दिया। हँसकर इसका उत्तर वे टाल दिया करते थे।

इस बार घर आते ही वे जुट गये अपने व्यवसायमें। सबको बड़ी प्रसन्नता हुई। इनका पागलपन तो गया। एक वर्षमें ही उन्होंने कन्याका विवाह कर दिया। बड़े पुत्रको अपने व्यवसायमें लगा दिया।

'सती! शरीरका ठिकाना नहीं। मौत सिरपर खड़ी है। मन इन बाल-बच्चोंसे हटाकर भगवान्‌में लगाओ तो अच्छा।' बार-बार वे स्त्रीको समझाते रहे हैं और ये बातें अब महत्त्वपूर्ण हो गयी हैं, जब कि फिर वैद्यराज सहसा घरसे चले गये हैं। इस बार वे एक कागज छोड़ गये हैं। उसमें लिखा है—'शरीर अनित्य है। अब इसके लौटनेकी आशा नहीं करना चाहिये। प्रभुके भजनमें ही सबका मङ्गल है। तो वैद्यराजको भी रससिद्धि नहीं मिली? वे भी अमर नहीं हो सके?'
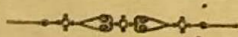
आत्महत्या करने अथवा घर छोड़कर निकल भागनेका दुष्परिणाम

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आजकल समाचार-पत्रोंमें प्राय: ऐसे समाचार देखने, पढ़ने एवं सुननेमें आया करते हैं कि अमुक व्यक्तिने अमुक कारणसे आत्महत्या कर ली अथवा अमुक व्यक्ति घर छोड़कर निकल भागा आदि-आदि। यहाँ इस लेखमें इस प्रकारकी चेष्टाओंके दुष्परिणामके सम्बन्धमें विचार किया जाता है।

बहुत-से स्त्री-पुरुष, बालक एवं बालिकाएँ आवेशमें आकर आत्महत्या कर लेते हैं—यह उनकी बिल्कुल नासमझी है। सभी योनियोंमें मनुष्य-योनिको ही श्रेष्ठ बताया गया है; यह बात शास्त्रसंगत, युक्तिसंगत एवं प्रत्यक्ष भी है ही। मनुष्य-योनि ही एक ऐसी योनि है, जिसमें इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण सुखोंका उपभोग किया जा सकता है एवं सबको सुख पहुँचाया जा सकता है। और किसी प्राणीमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वह सबको सुख पहुँचा सके; तथा इस प्रकारका सुख अन्य किसी योनिमें भी नहीं है। शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा गया है कि मनुष्य-जीवनके अतिरिक्त और किसी जीवनमें अपने आत्माका कल्याण भी नहीं हो सकता। और तो और, इस मनुष्य-शरीरको पानेके लिये देवतालोग भी तरसते हैं। जो लोग आत्महत्या करके ऐसे अमूल्य शरीरसे हाथ धो बैठते हैं, उनसे अधिक बेसमझ और कौन हो सकता है? गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानस, उत्तरकाण्डमें कहा है—

> बड़ें भाग मानुष तनु पावा।
> सुर दुर्लभ सदग्रंथन्हि गावा॥

अर्थात् यह मनुष्यका शरीर बड़े भाग्यसे मिलता है, वह देवताओंके लिये भी दुर्लभ है—यह बात अच्छे-अच्छे ग्रन्थ कहते हैं।

इतना ही नहीं, गोस्वामीजी कहते हैं कि जीव जब चौरासी लाख योनियोंमें भ्रमण करता हुआ तंग आ जाता है, तब उसके कष्टको देखकर भगवान् ही अपने परम दयालु स्वभावके कारण कृपा करके उसे मनुष्यका शरीर प्रदान करते हैं—

> आकर चारि लाख चौरासी।
> जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥
> फिरत सदा माया कर प्रेरा।
> काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥
> कबहुँक करि करुना नर देही।
> देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

ईश्वरकी अहैतुकी कृपा और दयासे जो यह मनुष्य-शरीर मिला है, उससे हमें विशेष लाभ उठाना चाहिये। उत्तम देश, उत्तम समय, उत्तम जाति, उत्तम सङ्ग, उत्तम धर्म—ये सब ईश्वरकृपासे मनुष्य-शरीरमें ही मिलते हैं, जो हमलोगोंको प्राप्त है। इतना ही नहीं, परमदयालु ईश्वरने हमें बुद्धि, विवेक, शक्ति तथा सभी अनुकूल पदार्थ प्रदान किये हैं; उन सबका ठीक-ठीक उपयोग करनेकी आवश्यकता है। इनका ठीक उपयोग करनेसे कल्याण एवं दुरुपयोग करनेसे अधोगति हो सकती है। उपर्युक्त समग्र साधनोंसे सम्पन्न होकर भी जिसने अपने आत्माका कल्याण नहीं किया अर्थात् इस लोक और परलोकको नहीं सुधारा, उसकी शास्त्र बड़ी निन्दा करते हैं। श्रीरामचरितमानसमें कहा है—

> जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
> सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

'ऐसे दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर जो संसार-सागरसे पार नहीं होता, वह कृतघ्न है, मन्दमति है तथा आत्म-हत्या करनेवालेकी जो गति होती है, वही गति उसकी होती है।'

आत्महत्या करनेवालेकी दुर्गतिके विषयमें शुक्ल-यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायके, जिसको ईशावास्योपनिषद् भी कहते हैं, तीसरे मन्त्रमें कहा है—

> असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
> ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

'जो कोई भी मनुष्य आत्महत्या करनेवाले होते हैं, वे नाना प्रकारकी आसुरी योनियों तथा असुरोंके उन

भयंकर लोकोंको बारंबार प्राप्त होते हैं, जो अज्ञान—दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं ।'

आत्महत्यारोंके दो प्रकार होते हैं—एक तो वे आत्महत्यारे हैं, जो मनुष्यका शरीर पाकर अपने कर्तव्य-का पालन नहीं करते और दूसरे वे आत्महत्यारे हैं, जो इस मनुष्यशरीरको काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष और हठके कारण नष्ट कर देते हैं । दोनोंकी ही दुर्गति होती है । किसी भी प्रकारसे क्यों न हो, प्राणोंका वियोग करना तो महान् मूर्खता ही है ।

कोई-कोई विद्यार्थी हाईस्कूल अथवा कालेजकी किसी परीक्षामें अनुत्तीर्ण हो जानेके कारण इस भय और लज्जाके कारण कि 'मैं परीक्षामें फेल हो गया, अब मैं किसीको भी मुँह दिखाने लायक नहीं रहा, लोग मुझे क्या कहेंगे ?' मूर्खताके कारण आत्महत्या कर लेते हैं । कोई-कोई व्यक्ति घरकी लड़ाई तथा अन्यान्य झंझटोंके कारण भी आत्महत्या कर लेते हैं । इसी प्रकार दहेजकी प्रथा बढ़ जानेके कारण रुपयोंकी व्यवस्था न होनेसे बड़ी आयुतक विवाह न किये जानेपर लड़कियाँ अपने भविष्यका विचार न करके माता-पिताके दुःखको देखकर आत्महत्या कर लेती हैं । कई बहुएँ सासके ताने न सह सकनेके कारण ही आत्महत्या कर लेती हैं । ऐसे स्त्री-पुरुष विष खाकर जलमें डूबकर या अग्निसे शरीरको जलाकर अथवा कोई-कोई ऊँचे स्थानसे कूदकर मर जाते हैं । वे यह नहीं सोचते कि मेरे आत्महत्या कर लेनेपर क्या होगा, मैं कहाँ जाऊँगा, इसके फलस्वरूप मुझे सुख मिलेगा कि दुःख भोगना पड़ेगा इत्यादि । किसीके शरीरसे कोई दोष घट जाता है, तो वह उसके कारण ही आत्महत्या कर लेता है । वह यह सोचता है कि मैं बड़ा पापी हूँ, मेरा तो जीवन ही भ्रष्ट हो गया । किंतु वास्तवमें सोचा जाय तो यह सब उसकी मिथ्या कल्पना ही है । कोई बड़े-से-बड़ा दुराचारी क्यों न हो, उसके भी उद्धारका भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें उपाय बताया है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥
(९ । ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त हुआ मेरेको निरन्तर भजता है, तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है, अर्थात् उसने भली प्रकार निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान कुछ भी नहीं है । (फलतः) वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है । हे अर्जुन ! तू निश्चय-पूर्वक जान ले कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता ।'

भगवान् कितना आश्वासन दे रहे हैं ! अपने आत्माके कल्याणके लिये किसीको भी निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है । कोई कैसा भी पापी क्यों न हो, यदि उसका शरीर बना रहा तो साधन करनेपर एक दिन वह अपना उद्धार भी कर सकेगा । किंतु मनुष्य-शरीर खो देनेपर तो उद्धारका कोई रास्ता ही नहीं रह जायगा, उसके लिये तो खतरा-ही-खतरा है; क्योंकि जबतक मनुष्य-शरीर उसे प्राप्त है, वह समय पाकर सब कुछ कर सकता है । भगवत्कृपासे धनहीन धनवान् और मूर्ख भी पण्डित हो सकता है; सब समय स्थिति एक-सी नहीं रहती । किंतु आत्महत्या कर लेनेपर तो सिवा दुःख भोगनेके जीव और कुछ नहीं कर सकता—यह बात निश्चित है । आत्महत्या करनेवाला यह समझता है कि आत्महत्या कर लेनेपर इन सब दुःखोंसे उसे छुटकारा मिल जायगा; किंतु बात सर्वथा ऐसी नहीं है । यह मनकी मूर्खतापूर्ण सूझ है; क्योंकि जीवित अवस्थामें जो दुःख है, उससे बहुत अधिक दुःख तो आत्महत्या करनेके समय होता है और उससे भी सैकड़ों गुना अधिक दुःख आत्महत्या कर लेनेपर परलोकमें भोगना पड़ता है ।

उदाहरणके लिये मान लीजिये किसीने आत्महत्या-का विचार करके अपनेपर किरासन तेल छिड़ककर आग लगा ली । किंतु जब उसका शरीर जलता है, उस समय उसे महान् पीड़ाका अनुभव होता है और वह भीतरसे

चाहता है कि मैं किसी प्रकार बच जाऊँ। किंतु वह प्रायः बच ही नहीं पाता और भयानक कष्ट पा-पाकर प्राण त्यागता है, उसके शरीरमें बहुत जलन होती है। यदि कोई बच जाता है तो वह भी बहुत ही कष्ट पाता है।

कोई आत्महत्याके लिये विषपान करता है। विषपान कर लेनेपर जब विष चढ़ता है, तब बहुत ही क्लेश होता है और मनुष्य तड़फड़ाता है, चिल्लाता है, जोर-जोरसे रोता है, घरवालोंको अपने द्वारा विषपान किये जानेका परिचय देता है। घरवाले डाक्टर-वैद्योंको बुलाकर विष निकालनेके विविध प्रयत्न करते हैं। जब किसी भी प्रकारसे विष शान्त नहीं होता, तब उसे सभी घरवालों-के सामने तड़फ-तड़फकर मरना पड़ता है। उस समय-का दृश्य बहुत ही भयानक होता है।

इसी प्रकार कोई नदी, तालाब, कुएँ आदि जलाशय-में डूबकर मरता है। एक बार तो वह अपने निश्चयानुसार कूद पड़ता है; किंतु जब पानीमें दो-चार डुबकियाँ लगा लेता है और उसका गला घुटने लगता है, पानी पेटमें भर जाता है, तब उसे बड़ी यन्त्रणा होती है और यह इच्छा होती है कि मुझे कोई बचा ले। वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर हाथ-पैर पीटता है और अपनी सामर्थ्य-भर जलसे बाहर निकलनेकी चेष्टा करता है, बचानेके लिये दूसरोंसे संकेत भी करता है। किसी-किसीको संयोगवश कोई निकाल भी लेते हैं। डाक्टरोंको बुलाया जाता है, वे पानी निकालते हैं, इंजेक्शन देते हैं, मालिश करते हैं। फलतः कोई-कोई जी भी जाता है, नहीं तो अधिकांश मृत्यु हो जाती है। जिसे कोई भी निकाल नहीं पाता, वह तो प्रायः मर ही जाता है। कैसे भी क्यों न हो, बिना मौतके असमयमें शरीर-त्याग करने-वालेको अत्यन्त कष्ट होता है—यह निश्चित तथा प्रत्यक्ष भी है ही। उपर्युक्त दृश्योंको देखकर घरवालोंको तो अपार दुःख होता ही है, दूसरे लोगोंको भी उनका वियोगजन्य दुःख देखकर महान् कष्ट होता है। कोई-कोई तो विवाहित एवं अधिक आयुके होनेपर भी किसी कारणवश आत्महत्या कर लेते हैं एवं अपनी स्त्री तथा बाल-बच्चोंको सदाके लिये महान् संकटमें डाल जाते हैं। वे यह सोचनेका तनिक भी प्रयत्न नहीं करते कि मेरे आत्महत्या कर लेनेपर मेरे माता-पिता आदि तथा मेरे आश्रित स्त्री एवं नन्हे-नन्हे बच्चोंकी क्या दशा होगी, इनकी कौन रक्षा करेगा, इनका कैसे भरण-पोषण होगा। यह तो इस लोकमें होनेवाले दुःखका वर्णन हुआ। परलोकमें तो उन्हें जो कष्ट एवं दुःख भोगना पड़ता है, वह अवर्णनीय है। हमारे प्रातःस्मरणीय त्रिकालज्ञ ऋषि-मुनियोंने आत्महत्यारेकी बड़ी दुर्गति बतायी है।

असमयमें शरीर त्यागनेके कारण प्रथम तो आत्महत्यारे-को कोई भी योनि नहीं मिलती, वह प्रेतयोनिमें भटकता रहता है। उसके बाद शूकर, कूकर, कीट, पतंग आदि तिर्यक् योनियोंको प्राप्त होता है और वह तदनन्तर रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, अन्धतामिस्र आदि घोर नरकोंमें गिराया जाता है। नरकोंकी विभिन्न घोर यातनाएँ उसे दी जाती हैं, जिनका वर्णन श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थोंमें आता है। इस प्रकार असमयमें मरनेकी जो प्रवृत्ति है, वह आसुरी स्वभाव है। आसुरी स्वभाव-वालोंका वर्णन भगवान्ने गीता अध्याय १६, श्लोक ४ से २१ तकमें किया है, उसे वहाँ देख सकते हैं। उन आसुरी स्वभाववालोंकी जो दुर्गति होती है, वही असमयमें प्राण त्यागनेवालेकी होती है। आसुरी स्वभाव-वालोंकी दुर्गतिका वर्णन भगवान्ने गीता अध्याय १६, श्लोक १६ में किया है—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

'वे अनेक प्रकारसे भ्रमित हुए चित्तवाले अज्ञानी-जन मोहरूप जालमें फँसे हुए एवं विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त हुए महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं।'

आगे इसी अध्यायके २० वें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

'हे अर्जुन ! जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हुए

वे मूढ़ पुरुष मुझे प्राप्त न होकर उससे भी अतिनीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें गिरते हैं।'

इसी आशयका जगह-जगह पुराणोंमें भी वर्णन आता है। शास्त्रोंकी इन सब बातोंपर विश्वास करके इस अमूल्य मनुष्य-जीवनको काम, क्रोध, लोभ, मोह, लज्जा, भय, अज्ञान, राग-द्वेष आदिके कारण संकटमें नहीं डालना चाहिये।

कितने ही भाई घरके क्लेशके कारण कष्टका अनुभव होनेपर लज्जा, भय और क्रोधके वशीभूत हो घर छोड़कर बाहर निकल जाते हैं। दूरदर्शी न होनेके कारण ही वे ऐसा करते हैं; किंतु बाहर निकलनेपर जब सोने, खाने-पीने आदिका महान् कष्ट अनुभव करते हैं, तब अपनी भूलपर पश्चात्ताप करते हैं। उनके मनमें घर लौट जानेकी बात भी आती है; किंतु इस लज्जाके कारण वे नहीं जा पाते कि लोग उन्हें क्या कहेंगे। इस प्रकार भ्रमित-चित्त हुए त्रिशङ्कुकी-सी मनःस्थितिको लेकर या तो वे किसी वेषधारी दम्भी साधुके फेरमें पड़ जाते हैं या भटकते फिरते हैं। वे सदा चिन्तित रहते हैं एवं भयानक संकटमें पड़ जाते हैं। उनकी प्रत्यक्ष दुर्दशा होती है और उनके वियोगमें उनके घरवाले भी दुखी होते हैं। अतः घर छोड़कर निकल भागना भी महान् मूर्खताका ही द्योतक है। यह भी काम-क्रोध-लोभ-मोह आदिके कारण ही होता है। भगवान्ने गीता अध्याय १६, श्लोक २१ में कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

'काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार हैं; ये आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतः इन तीनोंको त्याग देना चाहिये।'

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥
(गीता १६। २२)

'इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ अर्थात् काम, क्रोध आदि विकारोंसे छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है, इससे वह परम गतिको प्राप्त होता है।'

प्रभु-प्रार्थना

(लेखक—श्रीहरिशंकरजी शर्मा)

तुम्हीं माता-पिता, तुम्हीं बन्धु-सखा, तुम ही बल-वित्त हमारे प्रभो!
तुम्हीं ज्ञानकी खान, प्रधान-महान, तुम्हीं रखवारे-सहारे प्रभो!
बल-बुद्धि प्रदान करो हमको, दुखी-दीनोंके दुःख-दरिद्र हरें,
सत्कर्मके पालनमें रत हों, प्रिय धर्मके हेतु ही जाएँ-मरें!

सब शुद्ध, प्रबुद्ध, समृद्ध रहें, जन-जीवनमें वह भाव भरो;
अघहीन, अदीन, प्रवीण बनें, सुखी, स्वस्थ, शतायु-चिरायु करो,
विपदाएँ पड़ें, बड़े विघ्न पड़ें, मुँह सत्यसे नाथ! न मोड़ें कभी;
मर जाएँ अभी, या जिएँ जुग सौ; पर धर्म-सुकर्म न छोड़ें कभी।

सत ज्ञान सुकर्म समन्वित हो, सत साधन संचित ही धन हो,
सुख-शान्तिका स्रोत सभी के लिये शुचि सत्य-अहिंसा का जीवन हो।
निजता-परता भ्रम-भाव मिटे, सन्मित्र समान चरें-विचरें,
सदाचार का सम्पति साथ रहे, तप-त्याग करें, ध्रुव धर्म धरें।

पशुता का प्रदर्शन हो न कभी, निज नाश निमित्त न युद्ध ठनें;
ऋजु रीति-सुनीति, प्रतीति बढ़े; यह विश्व विशाल कुटुम्ब बने।
जग में समता सुख-स्नेह भरें, जग भी हो सदा सुखकारी हमें,
पर-द्रव्यमें लोभ या मोह न हो, प्रिय माता-सी हो परनारी हमें।

अपवर्ग या स्वर्ग से भी बढ़ के हो स्वदेश सदा हितकारी हमें,
जिस भूमि ने जीवन-जन्म दिया, जननी वह प्राणों से प्यारी हमें।
कर पालन-पोषण पुष्ट किया, उसका नित गौरव-गान करें;
धन-धाम तो क्या, चरणों में प्रभो! हँसते हुए प्राण प्रदान करें।

मानस-माधुरी

[तुलसी-कलाकी एक झलक]

(लेखक—पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी)

सामन्ती व्यवस्थाका पूर्ण प्रस्फुटित काल था, अकबरका; पर हिंदू-शास्त्रके अनुसार राजा होता था प्रजाका प्रतिनिधि और प्रजाके सुख-दुःख उसके अपने थे। उस कालमें गोस्वामी तुलसीदास लोक-हृदयको दिशा देनेवाले कविके रूपमें अवतरित हुए। उन्होंने मानवीयताकी ऐसी पकड़ बतायी कि मद, मोह, लोभ, अहंकार, घृणा, क्रोध तथा तिरस्कारके भाव महामहिमशाली चक्रवर्ती महिपालोंतकके पास न फटकने पायें और वे न केवल अपनी प्रजाके हितू रहें वरं उनके अपने सगे बन जायँ। गोस्वामीजीके काव्यमें इन वृत्तियोंकी विशिष्ट छटा देखनेको मिलती है, सुख-दुःखमें जहाँ दोनों वर्गोंका दुईभाव इकाईमें बदल जाता है। अपने विषयके लिये हम केवल तुलसीका रामचरितमानस चुनते हैं और उसमें भी अयोध्याकाण्ड।

राजाका प्रथम धर्म है—लोक-हृदयकी लीलाओंकी परख और तब उन लीलाओंको शील, सौजन्य और कला प्रदान करना। पहले लोक-हृदयको संवेदनशील बनाना और तब उस हृदयपर प्रतिष्ठित होना। शासनसूत्रका वास्तविक रूप तो यही है। दूसरा धर्म है अपनी प्रजाके छोटे-बड़े, ऊँच-नीच—सबको पहिचानना और उनके बीच शुद्ध-बुद्ध-सुहृद् आचरण-द्वारा अपनी इकाई स्थापित करना। तीसरा धर्म है—अपने राज्यान्तर्गत वन, पर्वत, नदी, नालों, क्षेत्रों तथा विहारोंको जानना। चौथा धर्म है अपने घरके भीतरका प्रेमाचरण कि घरेलू वातावरणमें उनकी छाप ऐसे छाकर रह जाय कि उनका संयोग ही शुभ प्रतीत हो और वियोग अतीव कष्टकर और अनिष्टकर। इतना ही नहीं, उनके पाले हुए पशु-पक्षी जीव-जन्तु भी उनपर प्राण निछावर करने लगें। पाँचवाँ और मुख्य धर्म है—समग्र वातावरणका परिष्कार कि खल स्वयं उनसे दूर भागें, कुटिलाईका परित्याग कर दें और उनकी रीति-नीतिसे न केवल मानववर्ग अपितु देवगण भी प्रसन्न होने लगें। उनके सदाचरणकी छाप पड़ने लगे जड और चेतनतकपर और सब ओर स्वतः ही शान्ति और सुखका प्रसार होने लग जाय। समस्त लोक (केवल अपना लोक ही नहीं) उनका ऐसा हितू हो जाय कि पग-पगपर उनके कार्योंको अनुमोदन मिलने लगे सब ओरसे। तात्पर्य यह कि राजामें नर और नारायणके गुण समा जायँ और उसके अपने सत्य, शील, शौर्य तथा शक्तिके गुण प्रजावर्गमें अवतरित और वितरित हों।

प्रजा हो उसकी समग्र चेतन लोक और चेतन-लोकमें गणना हो सागर-सरिताकी, वन-उपवनोंकी, स्रोत-निर्झरोंकी, हिमखण्डों तथा शिलाखण्डोंकी और लता-गुल्म, तड़ाग एवं वारिधिमालाकी। वसन्त त्रिविध समीर लिये, मेघमाला शीतल छाँह लिये और वृक्षदल फल-फूल लिये सेवामें निरत रहें और संकेतमात्रपर अष्ट सिद्धियाँ और नव निधियाँ प्रस्तुत हो जायँ। राजाका अभिषेक तब हो, जब एक तो प्रजा-मानस-में उसने अपना स्थान बना लिया हो और दूसरा पर्यटन और परिवीक्षणद्वारा जान-पहचानकर उसने अपने राज्यकी परिधि बाँध ली हो। तीसरी बात यह कि धरणीका भार उतार देनेके प्रयास उसने किये हों असंतोंके मूलोच्छेदनद्वारा; अपनी मान्यताएँ गोस्वामीजी रामके विषयमें हनूमान्‌के मुखसे यों कहलाते हैं—

> जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
> की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥

भक्तको अपने देवताके दर्शन हों देशके राजाके रूपमें, भाईके रूपमें, पिता-पुत्र-मित्रके रूपमें, वन-वाटिकाके रूपमें, पशु-पक्षियों और कोल-भील-किरातोंके रूपमें। इस प्रकारसे लोककी सारी व्यवस्था स्नेह और आनन्द, शौर्य और उत्साह, मङ्गल और कल्याणकी रेशमी डोरियोंसे सध-बँध जाय।

तुलसीके चरित्र-चित्रण तथा घटनाओंके निर्माणमें सांकेतिक भाषाका प्रचुर प्रयोग रहता है। हर बात कहनेके लिये थोड़ी भूमिकाका प्रश्रय आवश्यक है। देश-काल, रीति-नीतिका विचार भी आवश्यक है। प्रसन्नताकी मुद्रामें कठिन कार्य भी सुगम प्रतीत होगा। मनुष्य अपने चारों ओर विचारों और आचरणोंका वातावरण बनाता चलता है। हर समय उसके दो संसार बनते रहते हैं—आन्तरिक अथवा मानसिक (भीतरी विचारोंवाला) तथा बाह्य (जिसमें इन्द्रियोंसमेत वह विचरण और आचरण करता है)। यदि दोनों संसारोंमें साम्य है, सुषमा है, समृद्धि है, तब किये कार्य सब सिद्ध होते हैं। केवल थोड़ी बुद्धि लगानी आवश्यक है। महाराज दशरथ गुरु वसिष्ठके पास जाते हैं रामके युवराज बना देनेकी बात कहनेपर 'सुदिन' और 'सुअवसर' देखकर और 'मुदित मन' होकर। दशरथ भूमिका बाँधते हैं—

> 'भए राम सब बिधि सब लायक'

तथा—

> सेवक सचिव सकल पुरबासी। जे हमारे अरि मित्र उदासी॥
> सबहि रामु प्रिय जेहि बिधि मोही।

अभी अपने विषयतक पहुँच ही नहीं पाये थे कि चतुर और ज्ञानी वसिष्ठजी महाराज कहते हैं—

राजन राउर नामु जसु सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिप मनि मन अभिलाषु तुम्हार॥

अर्थात् हे राजन्! आपने तो स्वयं ही समय विचार कर बात कही है, पूरी होगी ही। गुप्त संकेत राजाके देखिये।

मोहि अछत यहु होइ उछाहू। लहहिं लोग सब लोचन लाहू॥

अर्थात् मेरे जीवनकालमें ही यह कार्य हो जाय। (जैसे भावी राजाके मुखमें बैठी बोल रही हो कि रामको राजा करते ही दशरथ शरीर त्याग देंगे) 'लोग सब'में दूसरा संकेत निहित है 'समग्र प्रजावर्ग'का। 'लोग'का अर्थ है—चेतन समाज, जिसका संकेत ऊपर आ चुका है। अर्थात् संत-महात्मा, कोल-भील, जंगली जीव तथा वनवासी जनता और ग्रामीण समाज आदि। गुरुजी फिर कहते हैं—

सुदिन सुमंगलु तबहिं जब रामु होहिं जुबराजु॥

अर्थात् जब यह भाव मनमें उदित हो कि राम राजा हों, तभी सुमङ्गल है। हमारे विचारमें राज्याभिषेक रामका तभी हो गया, जब राजा दशरथको यह आभास मिला कि राम 'अरि, मित्र, उदासी'—सबके प्रिय हो गये। अनुमोदन उस वृत्तिका मिला गुरुके वचनोंद्वारा। यह है आन्तरिक राजतिलक। इसकी व्याख्या आगे की जायगी।

अब देखिये कि उत्साह और आनन्दके आवेशमें भी राजा लोकधर्म नहीं भूलते और प्रत्येक मुख्य कर्म करनेके पूर्व जनताकी अभिरुचि जाननेके लिये उत्सुक रहते हैं। वे कहते हैं कि गुरुकी आज्ञा तो हो चुकी। पर—

जौं पाँचहि मत लागइ नीका। करहु हरषि हियँ रामहि टीका॥

चतुर मन्त्री सबका प्रतिनिधि बनकर बोलता है—

'जग मंगल भल काजु बिचारा।'

राम तो भूतमात्रके प्यारे हैं, तब समस्त संसारका कल्याण होगा। यह बात तो सत्य है कि 'सत्यसंध' राजा दशरथ और उनके परम आज्ञाकारी पुत्र राम, और क्षत्रियोचित रीतिके अनुसार राजाका ज्येष्ठ पुत्र ही राज्याधिकारी होता है। पर रामराज्यकी तो नीति ही निराली है—प्रेम, विश्वास, आत्मतोष और लोकहितवाली। रामका तो आदर्श ही लोकरञ्जन और लोकरक्षण था। केवल राजतिलक होनेसे कोई राजा नहीं होता। राम तो तभी मानवीय भावनाओंके राजा हो चुके, जब राजा दशरथने उन्हें परख लिया और उनको राजा बना देनेका संकल्प कर लिया। राज्य पाकर ही राम १४ वर्ष-पर्यन्त वनोंमें, मुनियोंमें, भारतके ग्रामोंमें, कोल-भीलों और हिंसक जन्तुओंके बीच विचरे हैं। यदि वे अरण्यमें न जाते तो कैसे जान पाते कि वहाँ नारियोंका अपहरण हो जाता है, कन्द-मूल-फलपर जीवननिर्वाह हो जाता है और पर्णकुटियोंमें रहना होता है तथा कुशाकी चटाइयोंपर सोना पड़ता है। बिना वनमें गये वे महादानव रावण और कुम्भकर्णका कैसे विनाश कर पाते और उनको सागर सुखा सकनेवाले अपने बलकी परीक्षाके अवसर कहाँ मिल पाते। यदि वनवासकी लीलाएँ न होतीं तो लोक कैसे जान पाता कि ऐसे भक्तवत्सल राजाके परम भक्त हनुमान्‌में कितना अपरिमेय बल और बुद्धि-कौशल था और वे सीता-रामके कहाँतक अन्तरङ्ग थे। नीति और सदाचरणके दृष्टान्त कहाँ देखनेको मिलते?

अपना विश्वास कि राम राजा होकर वन गये, हम आगे प्रतिपादित करेंगे। यहाँ समझ लेनेकी बात इतनी है कि जहाँ अंगरेज कवि शेक्सपियरकी कलाकी इतनी विरुदावली गायी जाती है कि वह एक महान् नाटककार था और वाक्-वैचित्र्यमें पटु था, वहाँ तुलसीके केवल एक ग्रन्थ रामचरितमानसकी कला तो देख ली जाय। कथामें नर-नारायणका निरन्तर समन्वय चलता है, निर्गुण और सगुण उपासनाकी धारा बहती है, भक्ति और नामकी व्याख्या चलती है और रूपक तो रचा जाता है नर-चरित्रका कि राम सीताके लिये वनमें विलाप करते दिखायी देते हैं, हनुमान्‌द्वारा संदेश भेजते हैं और एक रजकके छोटे-से तानेपर जगदम्बा सीताका परित्याग कर देते हैं; पर नरेतर गुण उनमें समय-समयपर स्पष्ट झलक मारते हैं। देवताओंकी बात पूरी करना उनका देवोचित ध्येय है और नर-चरित्रके द्वारा उसे सम्भव कर दिखाना कलाकारकी कला-चातुरी है। आरम्भसे दोहरा नाटक चला देना और अन्ततक उसे निभा देना सामान्य खेल नहीं है कि यह रहस्य भाई लक्ष्मण भी न जान पायें और शिव और हनुमान्‌को भी धोखा हो जाय कि पृथ्वीपर राम अवतरित हो गये। पूर्ण-लिप्त रहते हुए, रामके सम्पूर्ण चरित्र दर्शाते हुए, चाहे जब गोस्वामीजी हाथ झाड़कर अलग खड़े होकर स्वयं लीला देखने लगते हैं और संकेत देते हैं कि यह कथा तो शंकर-भगवान् पार्वतीजीको सुना रहे हैं (मैं जनताको नहीं सुना रहा)। उधर यह भी दिखा देते हैं कि कथा कहते-कहते शंकरजी पुलकायमान हो जाते हैं। इस प्रकारसे 'रामचरितमानस' कितनी सचेष्ट कृति है।

अब संकेत देखिये कि भवानी और शंकर वास्तवमें कौन हैं। वे हैं श्रद्धा और विश्वासके रूप—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।

भगवान् रामचन्द्र क्या हैं? वे हैं—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।

यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥

सीता क्या हैं ? वे हैं—

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ॥

राम वे हैं कि जिनके विशद चरित्र शास्त्र और पुराणोंमें वर्णित हैं और जिनका खेदरहित (संशयरहित) होकर चारों वेदोंने वर्णन किया है। महेशको बताया गया है—'सेवक, स्वामि, सखा सिय पीके'। तुलसीदासजी कहते हैं—

सपनेहुँ साचेहुँ मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ ॥'

कौसिल्या कौन हैं ? वे हैं 'दिसिप्राची'। दशरथ कौन हैं ? वे हैं—

'...अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि राम पद।
बिछुरत दीनदयाल प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ ॥'

जनकको श्रीरामके चरणोंमें 'गूढ़ सनेहु' था, पर वह स्नेह—

'राम बिलोकत प्रगटेउ सोई।'

नामके विषयमें कहा गया है—

'नाम रूप दुइ ईस उपाधी।'

और—

देखिअहिं रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥

पर यह भी कहते हैं—

सुमिरिअ नामु रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥

इस भाँतिसे 'अगुन' और 'सगुन' का भेदभाव मिटाकर कह दिया—

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥

अन्तमें गोस्वामीजी बता देते हैं—

राम अनंत अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।

राम-नामका स्मरण हितकर बताकर उसे भाँति-भाँतिके रूप-चोचोंसे समझाते हैं और उसका प्रभाव भी बताते हैं। कहते हैं कि राम-नाम—

बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥

'सहस नाम सम'

नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास॥

उपर्युक्त दोनों वर्ण 'रा' और 'म' हैं। 'राम-लखन सम'—

बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती॥

'नर नारायन सरिस सुभ्राता'

भगति सुतिय कल करन बिभूषन। जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन॥
स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर बसुधा के॥

'कंज मधुकर से'—

'जीहि जसोमति हरि हलधर से'

एकु छत्रु एकु मुकुट मनि सब बरननि पर जोउ।

और—

'समुझत सरिस नाम अरु नामी।'

कथाका क्रम ऐसे चलता है कि त्रेता युगमें एक बार शंकरजी कुम्भज ऋषिके पास गये और उनके प्रश्न करनेपर उन्हें शंकरजीने राम-कथा सुनायी। जब शिवजी दक्षकुमारीके साथ वहाँसे लौटे, तब उन्होंने देखा कि गुप्तरूपसे रामावतार हो गया है, किसलिये—

रावन मरन मनुज कर जाचा। प्रभु बिधि बचनु कीन्ह चह साचा॥

और शिवजीने ज्ञानद्वारा जान लिया कि रावणने वैदेहीका हरण किया है और —

बिरह बिकल नर इव रघुराई। खोजत बिपिन फिरत दोउ भाई॥
कबहूँ जोग बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह दुखु ताकें॥

अब स्पष्ट कर देते हैं—

सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी॥

क्योंकि—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥

शिवजी उमासे कहते हैं—

हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित।
मैं निज मति अनुसार कहउँ उमा सादर सुनहु॥

वह कथा यह है कि जय और विजय नामक दो द्वारपाल भगवान्‌के थे। वे ब्राह्मणोंके शापसे राक्षस हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष हुए और पहलेको भगवान्‌ने नृसिंहरूप धरकर और दूसरेको शूकररूप धरकर मारा। वे ही दोनों दानव महाबली और सुरविजयी रावण और कुम्भकर्ण हुए। उनके कारण एक बार भगवान्‌ने शरीर धारण किया। जो पूर्वमें कश्यप और अदिति थे, वे ही दशरथ और कौसिल्या हुए। फिर बली दैत्य जलंधर उत्पन्न हुआ, जिसकी स्त्रीके पातिव्रत्यके कारण शिवजी भी उससे हार मान गये। तब भगवान्‌ने—

छल करि टारेउ तासु ब्रत प्रभु सुर कारज कीन्ह।
जब तेहिं जानेउ मरम तब श्राप कोप करि दीन्ह॥

वही जलन्धर रावण हुआ। रामने मारकर उसे परमपद दिया। एक कल्पमें नारदके शापवश भगवान्‌को अवतार

लेना पड़ा। फिर स्वायम्भुव मनु और शतरूपाके लिये सुतरूप धारण करना पड़ा। पर चतुर रानी शतरूपाने 'सुतविषयक रति' माँगी थी। वह सब भगवान्‌ने दे दिया और कह गये कि—

आदिसक्ति जेहिं जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यह माया॥

और—

अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहउँ चरित भगत सुखदाता॥

एक अवतारका कारण राजा प्रतापभानुकी कथा है, जो ब्रह्मशापसे दस शीश और बीस भुजावाला रावण हुआ, विमाताका पुत्र विभीषण और छोटा भाई कुम्भकर्ण हुआ। उन्हींके चरित्रोंका वर्णन श्रीतुलसीदासने रामचरितमानसमें किया है।

इतनेसे ही अनुमान लगाया जा सकता है कि तुलसीकी रचना कितनी कलात्मक, रहस्यात्मक और जटिल है। उन्हें भगवान् रामको नरचरित्रमें प्रदर्शित करना था; पर यह जानते हुए कि अंशोंसहित वे अवतरित हुए हैं और जिस-जिसको जो वरदान दे चुके हैं, वे उन्हें उसी रूपमें पूरे करने हैं। रहस्य तो, जैसा पहले कहा जा चुका है, इतना गूढ़ है कि पार्वतीने चक्कर खाया, निरन्तर वनमें साथ रहते हुए लक्ष्मणने पता न पाया, राजा दशरथको पिता होते हुए भी पूरा ज्ञान न हो पाया और अतीव निकटके दास हनुमान् तकको भ्रम हुआ। इतना सब प्रबन्ध रामायणमें तुलसीने बाँधा है और नवधा भक्ति, वेद-शास्त्रकी रीति-नीति, निर्गुण-सगुणके मर्मकी व्याख्या और माया-जीवका सम्बन्ध-वैचित्र्य और प्रसार—सब दर्शाया है। एक मानसिक परिष्कारकी नीति चलती है कि पाठककी मनोवृत्तिका सुधार होता जाय, उसमें रसदशा उत्पन्न हो और व्यवहारकौशल और ज्ञान प्राप्त हो और दूसरा ऊपरी तौरपर कथानक चलता है कि जिसमें दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकारके काव्योंका आनन्द प्राप्त होता रहे। यह काव्यकी पद्धति कितनी ऊँची और सौम्य है! विचार करनेकी बात है कि इसके आगे शेक्सपियर आदिकी कृतियाँ कितनी पिछड़ जाती हैं। भरतकी भक्ति-भावना अलगसे अपना एक आदर्श उपस्थित करती चलती है।

अब उस बातपर आते हैं कि कैसे जाना जाय कि वन जानेके पूर्व ही राम राजा हो गये थे। इसके अनेक स्थलोंपर अनेक प्रकारसे संकेत मिलते हैं। अयोध्यापुरीकी प्रजा तो रामजन्मसे ही रामपर न्योछावर थी। हम जन्मवाली बात ही पहले लेते हैं। जन्म होता है और राम रोते हैं—

सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी॥
हरषित जहँ तहँ धाईं दासी। आनँद मगन सकल पुरबासी॥
एहि बिधि राम जगत पितु माता। कोसलपुर बासिन्ह सुखदाता॥
एहि बिधि सिसुबिनोद प्रभु कीन्हा। सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा॥

कोसलपुर बासी नर नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल॥

जेहि बिधि सुखी होहिं पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥

और—

गृह गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे सुषमा कंद।
हरषवंत सब जहँ तहँ नगर नारि नर बृंद॥

राजा होनेवाली बातके सम्बन्धमें राम स्वयं कौसल्या मातासे कहते हैं—

पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥

एक ओर कौसल्या रामसे कहती हैं—

तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥

और दूसरी ओर राम लक्ष्मणसे राजाओं-जैसे अधिकारसे कहते हैं—

भवन भरतु रिपुसूदनु नाहीं। राउ बृद्ध मम दुखु मन माहीं॥
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा। होइहि सब बिधि अवध अनाथा॥
गुरु पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥

और—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥

फिर आगे प्रसङ्ग आता है—

सबहिं बिचारु कीन्ह मन माहीं। राम लखन सिय बिनु सुखु नाहीं॥
जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥

और—

रघुपति प्रजा प्रेमबस देखी। सदय हृदयँ दुखु भयउ बिसेषी॥

मन्त्री रामसे वनमें कहते हैं—

तात कृपा करि कीजिअ सोई। जातें अवध अनाथ न होई॥

उधर वनमें वनवासी कोल-किरात रामसे कहते हैं—

अब हम नाथ सनाथ सब भए देखि प्रभु पाय।
भाग हमारें आगमनु राउर कोसलराय॥

तुलसीदासजीसे स्वयं कहे बिना नहीं रहा गया और उनको भी रामकी राजासे ही उपमा देते बनी। कहते हैं—

राम बास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
सचिव बिरागु बिबेकु नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥
सकल अंग संपन्न सुराऊ। राम चरन आश्रित चित चाऊ॥

जीति मोह महिपालु दल सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राजु पुरँ सुख संपदा सुकालु॥

—इत्यादि। राजाकी रीति-नीति तो कार्योंके करने और कर्त्तव्योंके निबाहनेमें ही परखी जाती है। राम किस समय किससे क्या कहते हैं और किस प्रकार आचरण करते हैं, समझनेकी बातें हैं। राम वन जानेको उद्यत हैं, उस समय

पहले तो सीताके तन-मनकी दशा देखिये। जब उनका राज्याभिषेक होता है, तब दोनोंकी क्या दशा होती है—

सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥
राम सीय तनु सगुन जनाए। फरकहिं मंगल अंग सुहाए॥

और फिर प्रजाके मनके उद्गार सुनिये—

सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात एहु ओर निबाहू॥
अस अभिलाषु नगर सब काहू।

दशरथके मनमें रामका क्या स्थान है—

तेहि पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥
सुबस बसिहि फिरि अवध सुहाई। सब गुन धाम राम प्रभुताई॥
करिहहिं भाइ सकल सेवकाई। होइहि तिहुँ पुर राम बड़ाई॥

राम सहजभावसे कैकेयीसे कहते हैं—

मन मुसकाइ भानु कुल भानू। राम सहज आनंद निधानू॥
सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥

तथा—

मुनि गन मिलन बिसेषि बन सबहिं भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि संमत जननी तोर॥

कैकेयी स्वयं रामके लिये कहती हैं—

तुम्ह अपराध जोग नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता॥
राम सत्य सब जो कछु कहहू। तुम्ह पितु मातु बचन रत रहहू॥

रामको कैकेयीके वचन कैसे लगे—

रामहि मातु बचन सब भाए। जिमि सुरसरि गत सलिल सुहाए॥

राम दशरथजीसे कहते हैं—

मंगल समय सनेह बस सोच परिहरिअ तात।
आयसु देइअ हरषि हियँ, कहि पुलके प्रभु गात॥

समयानुसार थोड़ी-सी बात कहकर राम यहाँकी व्यवस्था समाप्तकर चल दिये और उनकी दशा देखिये—

नव गयंदु रघुबीर मनु राजु अलान समान।
छूट जानि बन गवनु सुनि उर अनंदु अधिकान॥

वे कौसल्यासे कहते हैं—

आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मंगल कानन जाता॥
जनि सनेह बस डरपसि भोरें। आनँदु अंबु अनुग्रह तोरें॥

माताके इशारेपर राम सीताको नीति सिखाते हैं—

राजकुमारि सिखावन सुनहू। आन भाँति जियँ जनि कछु गुनहू॥

तथा—

आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥

रामके लिये प्रजाके मनमें क्या स्थान है? इसका अनुमान निम्नाङ्कित पदोंसे लगाइये—

नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी॥
सुनि भए बिकल सकल नर नारी। बेलि बिटप जिमि देखि दवारी॥
जो जहँ सुनइ धुनइ सिर सोई। बड़ बिषादु नहिं धीरजु होई॥
मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोकु न हृदयँ समाइ।
मनहुँ करुन रस कटकई उतरी अवध बजाइ॥

और—

खरभरु नगर सोचु सबु काहू। दुसह दाहु उर मिटा उछाहू॥

तथा—

एहि बिधि बिलपहिं पुर नर नारी। देहिं कुचालिहि कोटिक गारी॥
जरहिं बिषम जर लेहिं उसासा। कवनि राम बिनु जीवन आसा॥
बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी। जनु जलचर गन सूखत पानी॥

माता कौसल्या संकेत करती हैं—

जेहि चाहत नर नारि सब अति आरत एहि भाँति।
जिमि चातक चातकि तृषित बृष्टि सरद रितु स्वाति॥

तथा—

पूत परम प्रिय तुम्ह सब ही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥

इतनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कोसलपुरवासी राजा रामकी पूर्णरूपेण प्रजा हो चुके थे और राम सबके तन, मन, धन, धाम, शील, विवेक और हृदयके अधिकारी, अधिष्ठाता और राजा हो चुके थे। राजतिलक सारना तो केवल एक प्रथामात्र थी जो शेष रह गयी थी। जब राम वन जाने लगे, तब गुरु वसिष्ठके द्वारपर जा और विप्रोंको बुला पहले उनको परितोषा, फिर याचकोंको दान दिया और सखावृन्दोंको अखिल प्रीति (भक्ति) प्रदान की। दास-दासियोंको गुरुको सौंपा और पुरजनोंको आदेश दिया कि माताओंकी सम्हाल रखें। तब राम गणेश, पार्वती और शंकरकी वन्दना करके चल दिये। पर धीरे-धीरे प्रजा तो उनके साथ हो ली। रामको तब मायाका प्रश्रय लेना पड़ा? एक राजाकी भाँति ही राम मन्त्रीको क्या अनुशासन दे चुके हैं। मन्त्रीके ही मुखसे सुनिये—

कहब सँदेसु भरत के आएँ। नीति न तजिअ राज पद पाएँ॥
पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेएहु मातु सकल सम जानी॥
ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु सुजन सेवकाई॥

लगता तो यह है कि कोई राजा आज्ञाएँ दे रहा है, एक ऐसे एवजी करनेवालेको जिसे राज्यमद तुरंत हो जायगा और जिसे राजाकी नीतियोंका ज्ञान ही नहीं है। रामने क्या किया था—

लखन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहि निहोरा॥
बार बार निज सपथ देवाई। कहबि न तात लखन लरिकाई॥

इस प्रकारसे राम केवल अयोध्याके ही राजा नहीं थे। वे समस्त भारत-भूमिके राजा थे। वह ˝धकर केवल राज-

धानी अयोध्यामें ही कैसे रह सकते थे। उन्हें तो वाली-सुग्रीवका निबटारा करना था, रावण-विभीषणका न्याय करना था, अंगदको सखा और दास बनाना था, शबरी, गीध और अहल्या तथा निषादराजका कल्याण करना था। मुनियों और ग्रामवासियोंको अपने दर्शन और भक्ति देनी थी। इसीका तो संकेत है—

'नव गयंदु रघुबीर मन राज अलान समान ।'

भरतजी सेना, प्रजा, गुरु, महर्षियों तथा माताओंको लेकर उस एकछत्र राजाका तिलक सारने चले थे, यह जानते हुए कि 'राजा राम अवध रजधानी'। रामके तर्क और राजनीतिका फिर पूर्ण प्रस्फुटन और परिपाक चित्रकूटमें हुआ है, जब सकल समाजसहित भरत उनसे मिले हैं और उन्होंने अपने श्वशुर जनकजीका स्वागत-सत्कार किया है तथा उपदेश और प्रवचनोंद्वारा उन्हें मन्त्र-मुग्ध किया है। ये सब कैसी अनोखी और कलात्मक बातें हैं। स्थानाभावके कारण लेखका कलेवर नहीं बढ़ाना चाहिये; नहीं तो श्रीरामके सुन्दर चरित्र-की बड़ी विशद व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है।

परमार्थ-पत्रावली

(श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका पत्र)

सप्रेम राम-राम। आपका पत्र मिला। आपने अपने योग्य खास-खास बातें लिखवाकर भिजवानेके लिये लिखा सो ठीक है। नीचे खास-खास बातें लिखी जाती हैं। यदि हो सके तो उन्हें काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

१—भगवान्‌के नामका नित्य-निरन्तर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक निष्कामभाव और गुप्तरूपसे मनसे स्मरण करना चाहिये। यदि मनसे स्मरण न हो सके तो श्वासद्वारा या वाणीद्वारा करना चाहिये।

२—भगवान्‌के सगुण और निर्गुण अपने इष्टदेवके स्वरूपका ध्यान विश्वास और प्रेमपूर्वक करना चाहिये। स्वरूपका ध्यान करते समय उनके गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यकी ओर विशेष लक्ष्य रहना चाहिये।

३—मनसे भगवान्‌के समर्पण होकर वे करायें, वैसे ही हँसते-हँसते करना और उनके प्रेममें मग्न हो जाना चाहिये। जब यह स्थिति हो जाती है, तब परमात्माको तत्त्वसे जान लेनेपर तुरंत ही परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

४—महापुरुषोंका सङ्ग श्रद्धा और विश्वासपूर्वक करना चाहिये। श्रद्धाकी कसौटी यह है कि उनकी आज्ञाके अनुसार प्रसन्नतापूर्वक बाजीगरके बंदरकी भाँति नाचा जाय। इससे भी बढ़कर बात यह है कि पतिव्रता स्त्रीकी भाँति उनके संकेतानुसार चला जाय। उससे भी बढ़कर यह है कि हम सूत्रधारकी कठपुतलीकी तरह उनके संकेतपर नाचते रहें। आनन्द और उत्साह साथमें रहना चाहिये।

५—सत्पुरुषोंका सङ्ग करना। सत्सङ्गके अभावमें गीता, रामायण आदि सच्छास्त्रोंका या महापुरुषों-के लेख-पत्रादिको पढ़ना तथा उनका अर्थ और भाव समझकर उसके अनुसार अपना जीवन बनाना।

६—ज्ञान, आचरण, पद, गुण और अवस्थामें या और भी किसी प्रकारसे जो श्रेष्ठ हों, उनके चरणोंमें प्रतिदिन नमस्कार करना तथा उनकी आज्ञाका पालन करते हुए उनकी यथायोग्य सेवा करना।

७—दुखी, अनाथ और आपत्तिग्रस्त लोगोंके दुःख-निवारणके लिये यथाशक्ति तन, मन, धन और जनसे उनका हित करना।

८—संसार और शरीरको नाशवान्, क्षणभङ्गुर, अनित्य और दुःखरूप समझकर अभ्यास और वैराग्यद्वारा मन और इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना।

जबतक शरीर है, तबतक ऊपर लिखी हुई बातोंको काममें लानेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये विनीत प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

सर्वरोगोपशमनं सर्वोपद्रवनाशनम्। शान्तिदं सर्वरिष्टानां हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥

'भगवान् श्रीहरिके नामकीर्तनसे शारीरिक-मानसिक समस्त रोगोंका शमन हो जाता है, स्वार्थ-परमार्थके बाधक सभी उपद्रव नष्ट हो जाते हैं और तन-मन-धन तथा आत्मसम्बन्धी सब प्रकारके अरिष्टोंकी शान्ति हो जाती है।'

आजके इस आधि-व्याधि, रोग-शोक, द्रोह-द्वेष, स्पर्धा-कलह, वैर-हिंसा, वैषम्य-दारिद्र्य, तमसाच्छन्न बुद्धि-अहंकार, दुर्विचार-दुर्गुण तथा दुष्क्रिया आदि उपद्रवोंसे पीड़ित, अकाल, अवर्षा, अतिवर्षा, अग्निदाह, भूकम्प, महामारी आदि दैवी प्रकोपोंसे पूर्ण, अनाचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार, दुराचार, असदाचार, व्यभिचार और स्वेच्छाचार तथा भगवद्विमुखतारूप दुर्भाग्यसे संयुक्त अशान्तिपूर्ण युगमें विश्व-प्राणीको इन सभी उपद्रवों, प्रकोपों तथा दुर्भाग्यसे मुक्तकर सर्वाङ्गीण सुखी बनानेके लिये तथा मानव-जीवनके चरम तथा परम लक्ष्य मोक्ष या परम प्रेमास्पद भगवान्के प्रेमकी प्राप्ति करानेके लिये एकमात्र 'भगवन्नाम' ही परम साधन है। सभी श्रेणीके, सभी जातियोंके सभी नर-नारी मङ्गलमय भगवन्नामका जप कर सकते हैं। इसीलिये 'कल्याण' के भगवद्विश्वासी पाठक-पाठिकाओंसे प्रतिवर्ष प्रार्थना की जाती है कि वे कृपापूर्वक स्वयं प्रेमके साथ अधिक-से-अधिक जप करें तथा प्रेमपूर्वक प्रेरणा करके दूसरोंसे करायें। यही परम हित है। खेद है कि कुछ विशेष कारणोंसे गतवर्षमें हुए नाम-जपकी संख्याका हिसाब अभीतक तैयार नहीं हो पाया है। इसके लिये हम कृपालु जपकर्ताओंसे हाथ जोड़कर क्षमा-याचना करते हैं। जपकी संख्या तथा स्थानोंकी नामावली 'कल्याण' के अगले अङ्कमें प्रकाशित की जा सकती है। गत वर्षकी भाँति इस वर्ष भी—

'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

—इस उपर्युक्त १६ नामवाले परम पवित्र मन्त्रके २० (बीस) करोड़ जपके लिये ही प्रार्थना की जाती है। नियमादि इस प्रकार हैं—

१–यह श्रीभगवन्नाम-जप जपकर्ताके, धर्मके, विश्वके—सबके परम कल्याणकी भावनासे ही किया-कराया जाता है।

२–इस वर्ष इस जपका समय कार्तिक शुक्ला १५ सं० २०१४ (७ नवम्बर १९५७) से आरम्भ होकर चैत्र शुक्ला १५ सं० २०१५ (४ अप्रैल १९५८) तक रहेगा। जप इस अवधिके बीच किसी भी तिथिसे करना आरम्भ किया जा सकता है, पर इस प्रार्थनाके अनुसार उसकी पूर्ति चैत्र शुक्ला १५ सं० २०१५ को समझनी चाहिये। पाँच महीनेका समय है। उसके आगे भी जप किया जाय तो बहुत ही उत्तम है।

३–सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक-वृद्ध-युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

४–एक व्यक्तिको प्रतिदिन 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥' इस मन्त्रका कम-से-कम १०८ बार (एक माला) जप अवश्य करना चाहिये। अधिक कितना भी किया जा सकता है।

५-संख्याकी गिनती किसी भी प्रकारकी मालासे, अँगुलियोंपर अथवा किसी अन्य प्रकारसे रखी जा सकती है।

६-यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए-सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है।

७-बीमारी या अन्य किसी कारणवश जप न हो सके और क्रम टूटने लगे तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। पर यदि ऐसा न हो सके तो स्वस्थ होनेपर या उस कार्यकी समाप्तिपर प्रतिदिनके नियमसे अधिक जप करके उस कमीको पूरा कर लेना चाहिये।

८-घरमें सौरी-सूतकके समय भी जप किया जा सकता है।

९-स्त्रियाँ रजोदर्शनके चार दिनोंमें भी जप कर सकती हैं; किंतु इन दिनोंमें उन्हें तुलसीकी माला हाथमें लेकर जप नहीं करना चाहिये। संख्याकी गिनती किसी काठकी मालापर या किसी और प्रकारसे रख लेनी चाहिये।

१०-इस जप-यज्ञमें भाग लेनेवाले भाई-बहिन ऊपर दिये हुए सोलह नामोंके मन्त्रके अतिरिक्त अपने किसी इष्ट-मन्त्र, गुरु-मन्त्र आदिका भी जप कर सकते हैं। पर उस जपकी सूचना हमें देनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें सूचना केवल ऊपर दिये हुए मन्त्र-जपकी ही दें।

११-सूचना भेजनेवाले लोग जपकी संख्याकी सूचना भेजें, जप करनेवालोंके नाम आदि भेजनेकी आवश्यकता नहीं है। सूचना भेजनेवालोंको अपना नाम-पता स्पष्ट अक्षरोंमें अवश्य लिखना चाहिये।

१२-संख्या मन्त्रकी होनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणके रूपमें यदि कोई 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ (१०८) होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। अतएव जिस दिनसे जो बहिन-भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे चैत्र शुक्ला पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

१३-सूचना प्रथम तो मन्त्र-जप आरम्भ करनेपर भेजी जाय, जिसमें चैत्र पूर्णिमातक जितना जप करनेका संकल्प किया गया हो उसका उल्लेख रहे तथा दूसरी बार चैत्री पूर्णिमाके बाद, जिसमें जप प्रारम्भ करनेकी तिथिसे लेकर चैत्र पूर्णिमातक हुए कुल जपकी संख्या हो।

१४-जप करनेवाले सज्जनोंको सूचना भेजने-भिजवानेमें इस बातका संकोच नहीं करना चाहिये कि जपकी संख्या प्रकट करनेसे उसका प्रभाव कम हो जायगा। स्मरण रहे, ऐसे सामूहिक अनुष्ठान परस्पर उत्साहवृद्धिमें सहायक बनते हैं।

१५-सूचना संस्कृत, हिंदी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी अथवा उर्दूमें भेजी जा सकती है।

१६-सूचना भेजनेका पता-'नाम-जप-विभाग', 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)।

प्रार्थी—चिम्मनलाल गोस्वामी

सम्पादक 'कल्याण', गोरखपुर

नोट—इस सम्बन्धमें पत्र-व्यवहार करते समय कृपया अपनी सदस्य-संख्या अवश्य लिखें।